150 YEARS OF CELEBRATING THE MAHATMA

अनासक्ति दर्शन

हिंसामुक्त समतामूलक समाज निर्माण की अन्तरराष्ट्रीय पत्रिका

सितम्बर - दिसम्बर 2020

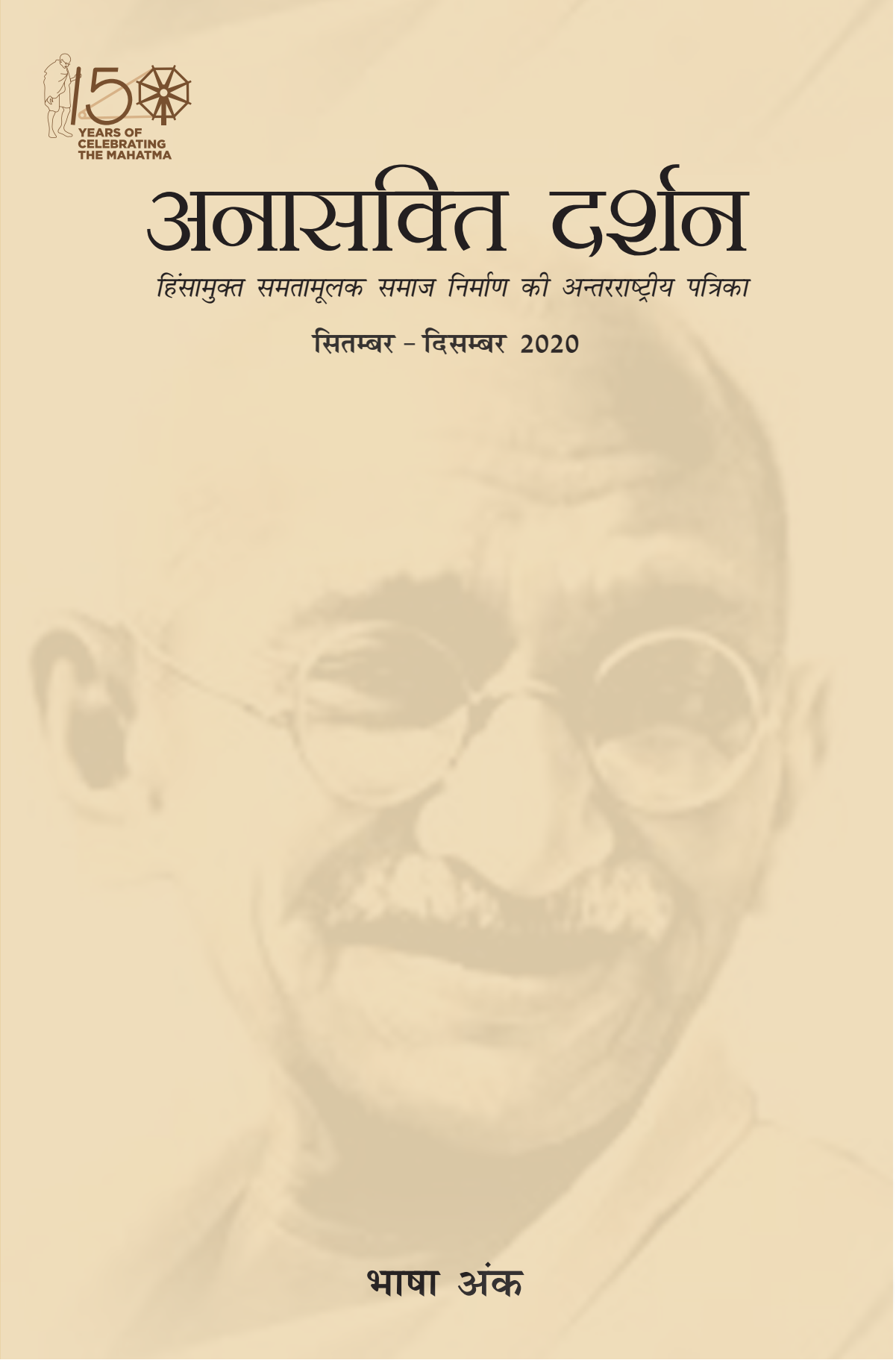

भाषा अंक

अनासक्ति दर्शन

हिंसामुक्त समतामूलक समाज निर्माण की अन्तरराष्ट्रीय पत्रिका

सितम्बर–दिसम्बर 2020

प्रधान सम्पादक
दीपंकर श्री ज्ञान

सम्पादक
प्रवीण दत्त शर्मा

सह–सम्पादक
पंकज चौबे

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
(स्वायत्त निकाय, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)

प्रकाशक
गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
राजघाट, नयी दिल्ली-110002
फोनः 011-23392710, 23392709

कीमत—50 रुपये

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110 002
फोन : 011-23392710 फैक्स : 011-23392706
ई-मेल : antimjangsds@gmail.com
2010gsds@gmail.com

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट,
नई दिल्ली-110002, की ओर से निदेशक,
दीपंकर श्री ज्ञान द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेखकों द्वारा उनकी रचनाओं में प्रस्तुत विचार एवं दृष्टिकोण उनके अपने हैं, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली के नहीं। समस्त मामले दिल्ली न्यायालय में ही विचाराधीन।

मुद्रक
चन्दू प्रेस, नई दिल्ली —110092

इस अंक में

अपनी बात		5
परदेशी भाषा की गुलामी	*—मोहनदास करमचन्द गांधी*	9
कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार	*—प्रेमचन्द*	14
भाषा-योजना की समस्या	*—हजारी प्रसाद द्विवेदी*	25
अफ्रीकी साहित्य और विद्वत्ता का भविष्य	*—न्गुगी वा थ्योंगो*	32
अन्तरराष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी की क्षमता	*—पं. विद्यानिवास मिश्र*	47
भाषाओं का महत्व	*—लक्ष्मीदास*	53
भाषा और स्वतन्त्रता: सवाल लोकतन्त्र, जन और राष्ट्र का!	*—रामशरण जोशी*	57
आदिवासियों की भाषा और चुनौतियाँ	*—रोज केरकेट्टा*	*64*
गांधी की राष्ट्र-राज्य भाषा नीति और राजभाषा	*—डॉ. दयाशंकर*	72
शब्द संकोचन का शिकार बनती हिंदी	*—उमेश चतुर्वेदी*	80
हिन्दी-मलयालम भाईचारा	*—डॉ. आरसु*	86
अपनी आजादी को कैसे अभिव्यक्त करें?	*—सोपान जोशी*	91
गांधीजी का भाषाई चिन्तन	*—गणपत तेली*	97

अपनी बात

राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे जरूरी तत्व है, भाषा। भाषा न सिर्फ विचार विनिमय का माध्यम है, बल्कि यह जीवन दर्शन भी है। भारत में भौगोलिक विविधता जितनी है, उतनी ही विविध भाषाएं भी हैं। हमारे यहां कई भाषाएं ऐसी हैं, जिनको बोलने समझने और लिखने वाला बहुत छोटा समूह है। लेकिन उन भाषाओं की शब्दावलियों में गहराई है। हमारे यहां हर भाषा एक दूसरे से अलग है, फिर भी उनमें समानता है। भारतीय भाषाएं भारत की सांस्कृतिक धरोहर हैं। इसे हर कीमत पर बचाए जाने की जरूरत है। आज पूरे विश्व में प्रतिदिन एक भाषा समाप्त हो रही है। ऐसे में पूरे विश्व पर शासन करने वाली एक भाषा का उभरना विश्व समुदाय के लिए खतरे की बात है। भारत के संदर्भ में यह सांस्कृतिक अवचेतन का विषय है। हम अपनी भाषा के प्रति सजग रहे हैं, लेकिन धीरे-धीरे एक भाषा ने हमारे मन-मस्तिष्क को गुलाम बनाने का प्रयास किया है। वह भाषा है-अंग्रेजी।

अंग्रेज जब भारत आए, तब उन्होंने भारत की भाषाई चेतना की गहराई को समझा और इसे नष्ट करने की रणनीति बनाई। इस कार्य में कुछ भारतीय विद्वानों ने भी उनका साथ दिया। लेकिन हमारी भाषाई चेतना इतनी गहरी है, कि वे इसे संपूर्ण रूप से नष्ट नहीं कर सके। उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से इसका प्रयास तो बहुत किया, लेकिन वे पूर्णतया भारतीय भाषाओं को दरकिनार नहीं कर पाए। अंग्रेजों ने अपनी शिक्षा पद्धति और इसके स्वरूप को इस तरह विकसित किया, जहां अंग्रेजी भाषा प्रमुख होती चली गई। भारत में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ती गई। और यह वह वर्ग था, जो भारतीय शासन व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा रहा। इस वर्ग का भारतीय जनमानस पर प्रभाव था। यह वर्ग भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी की अपेक्षा कमतर आंकता रहा और इन्होंने इस भाषा को आत्मसात कर लिया। धीरे-धीरे भारतीय लोगों के सामने एक ही विकल्प लगभग बच गया, वह था अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई-लिखाई। क्योंकि

भारत की देशी व्यवस्था को अंग्रेजों ने तोड़ने में बहुत हद तक सफलता पा ली थी।

महात्मा गांधी अंग्रेजी भाषा के अच्छे जानकार थे। उनकी अधिकांश पढ़ाई भी अंग्रेजी में हुई थी। लेकिन वे देशी भाषा व मातृभाषा के समर्थक थे। हालांकि वे किसी भी भाषा के विरोधी नहीं थे। लेकिन वह मानते थे कि अपने भावों को अभिव्यक्त देशी भाषा में अच्छे तरीके से किया जा सकता है। गांधी ने अपने विचारों में, आलेखों में और भाषणों में 'हिन्दुस्तानी भाषा' का जिक्र किया है। हिन्दुस्तानी भाषा से उनका अभिप्राय देश की सभी देशी भाषाओं से था। उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को अपनाने की वकालत की। वे कहते थे कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। अपनी पुस्तक हिन्द स्वराज में वे कहते हैं,'' हमें अपनी भाषा में ही शिक्षा लेनी चाहिए। जो अंग्रेजी पुस्तकें काम की हैं उनका अपनी भाषा में अनुवाद करना होगा। हर एक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिंदू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का और सबको हिंदी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिंदुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। उत्तरी और पश्चिमी हिन्दुस्तान के लोगों को तमिल सीखनी चाहिए। सारे हिन्दुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए, वह तो हिंदी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानों के संबंध ठीक रहें, इसलिए बहुत से हिंदुस्तानियों का इन दोनों लिपियों को जान लेना जरूरी है। ऐसा होने से हम आपस के व्यवहार से अंग्रेजी को निकाल सकेंगे।''

हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में गांधीजी के विचार स्पष्ट हैं। वे सभी भाषाओं का सम्मान करने की बात कहते हैं, लेकिन चाहते हैं कि भारत में भारतीय भाषाओं का बोलबाला रहे। क्योंकि विदेशी भाषा अपनाने से हमारी शिक्षा, हमारी संस्कृति, हमारी मानसिकता सब पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। हिंद स्वराज में ही गांधीजी ने कहा है कि करोड़ों लोगों को अंग्रेजी की शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मैकाले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी। जिस शिक्षा को अंग्रेजों से ठुकरा दिया है, वह हमारा सिंगार बनती है, यह जानने लायक है। उन्हीं के विद्वान कहते रहते हैं, कि उसमें यह अच्छा नहीं है, वह अच्छा नहीं है। वे जिसे भूल से गए हैं, उसी से हम अपने अज्ञान के कारण चिपके

रहते हैं। उनमें अपनी-अपनी भाषा की उन्नति की कोशिश चल रही है। वेल्स इंग्लैंड का एक छोटा सा परगना है, उसकी भाषा धूल जैसी नगण्य है। ऐसी भाषा का अब जीर्णोद्धार हो रहा है। वेल्स के बच्चे वेल्श भाषा में ही बोलें, ऐसी कोशिश वहां चल रही है। और हमारी दशा कैसी है? हम एक-दूसरे को पत्र लिखते हैं, तब गलत अंग्रेजी में लिखते हैं। एक साधारण एम.ए. पास व्यक्ति भी ऐसी गलती से नहीं बच पाता।''

देशी भाषाओं के महत्व पर ही केंद्रित है इस बार का अनासक्ति दर्शन का यह अंक। इस बार के अंक में प्रयास किया गया है कि केवल हिंदी ही नहीं अपितु अन्य भारतीय भाषाओं पर भी विद्वान व ख्यातिनाम लेखकों के विचारों को प्रस्तुत किया जाए, ताकि हम अपनी भाषाओं की समृद्ध विरासत को समझ सकें। इनमें ' परदेशी भाषा की गुलामी ' शीर्षक से गांधीजी के भाषा के बारे में विचार सम्मिलित किए गए हैं। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में प्रकट किए गए उनके ये विचार आज भी प्रासंगिक हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचंद के ' कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार' भी पठनीय है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का निबंध 'भाषा योजना की समस्या' में हिंदी के प्रसार का चिंतन किया गया है। द्विवेदी जी ठीक ही कहते हैं कि भाषा को हमें स्वतंत्र, स्वाधीन चिन्तन की भाषा बनाने की आवश्यकता है।'' इसके अतिरिक्त इस अंक में गणपत तेली, पं. विद्यानिवास मिश्र, रामशरण जोशी, डॉ. दयाशंकर, रोज केरकेट्टा, न्गुगी वा थ्योंगो, लक्ष्मीदास, सोपान जोशी, उमेश चतुर्वेदी के भाषा संबंधी विचारों से भी सुधि पाठकगण अवगत हो पाएंगे।

आपकी प्रतिक्रियाएं हमारे लिए शक्ति पुंज का काम करती हैं, अत: अपनी प्रतिक्रियाओं और सुझावों से हमें अवश्य अवगत करवाएं।

दीपंकर श्री ज्ञान

दीपंकर श्री ज्ञान

परदेशी भाषा की गुलामी

मोहनदास करमचन्द गांधी

...मैंने सर राधाकृष्णन से पहले ही कह दिया था कि मुझे क्यों बुलाते हैं? मैं यहाँ पहुँच कर क्या कहूँगा? जब बड़े-बड़े विद्वान मेरे सामने आ जाते हैं, तो मैं हार जाता हूँ। जबसे हिन्दुस्तान आया हूँ, मेरा सारा समय कँग्रेस में और गरीबों, किसानों और मजदूरों वगैरा में बीता है। मैंने उन्हीं का काम किया है। उनके बीच मेरी जबान अपने आप खुल जाती है। मगर विद्वानों के सामने कुछ कहते हुए मुझे बड़ी झिझक मालूम होती है। श्री राधाकृष्णन ने मुझे लिखा कि मैं अपना लिखा हुआ भाषण उन्हें भेज दूँ। पर मेरे पास उतना समय कहाँ था? मैंने उन्हें जवाब दिया कि वक्त पर जैसी प्रेरणा मुझे मिल जाएगी, उसी के अनुसार मैं कुछ कह दूँगा। मुझे प्रेरणा मिल गयी है। मैं जो कुछ कहूँगा, मुमकिन है, वह आपको अच्छा न लगे। उसके लिए आप मुझे माफ कीजिएगा। यहाँ आकर जो कुछ मैंने देखा, और देखकर मेरे मन में जो चीज़ पैदा हुई, वह शायद आपको चुभेगी। मेरा खयाल था कि कम-से-कम यहाँ तो सारी कार्रवाई अँग्रेजी में नहीं, बल्कि राष्ट्रभाषा में ही होगी। मैं यहाँ बैठा यही इन्तजार कर रहा था कि कोई न कोई तो आखिर हिन्दी या उर्दू में कुछ कहेगा। हिन्दी-उर्दू न सही, कम-से-कम मराठी या संस्कृत में ही कोई कुछ कहता। लेकिन मेरी सब आशाएँ निष्फल हुईं।

अँग्रेजों को हम गालियाँ देते हैं कि उन्होंने हिन्दुस्तान को गुलाम बना रखा है; लेकिन अँग्रेजी के तो हम खुद ही गुलाम बन गये हैं। अँग्रेजों ने हिन्दुस्तान को काफी पामाल किया है। इसके लिए मैंने उनकी कड़ी से कड़ी टीका भी की है। परन्तु अँग्रेजी की अपनी इस गुलामी के लिए मैं उन्हें जिम्मेदार नहीं समझता। खुद अँग्रेजी सीखने और अपने बच्चों को अँग्रेजी सिखाने के लिए हम कितनी-कितनी मेहनत करते हैं? अगर कोई हमें यह कहता है कि हम अँग्रेजों की तरह बोल लेते हैं, तो हम मारे खुशी के फूले नहीं समाते! इससे बढ़कर दयनीय गुलामी और क्या हो सकती है? इसकी वजह से हमारे बच्चों पर कितना जुल्म होता है? अँग्रेजी के प्रति हमारे इस मोह के कारण देश की कितनी शक्ति और कितना श्रम बरबाद होता है? इसका पूरा हिसाब तो हमें

तभी मिल सकता है, जब गणित का कोई विद्वान इसमें दिलचस्पी ले। कोई दूसरी जगह होती, तो शायद यह बस बरदाश्त कर लिया जाता, मगर यह तो हिन्दू-विश्वविद्यालय है। जो बातें इसकी तारीफ में अभी कही गयी हैं, उनमें सहज ही एक आशा यह भी प्रकट की गयी है कि यहाँ के अध्यापक और विद्यार्थी इस देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के जीते-जागते नमूने होंगे। मालवीय जी ने तो मुँहमाँगी तनख्वाहें देकर अच्छे-से-अच्छे अध्यापक यहाँ आप लोगों के लिए जुटा रखे हैं। अब उनका दोष तो कोई कैसे निकाल सकता है? दोष जमाने का है। आज हवा ही कुछ ऐसी बन गयी है कि हमारे लिए उसके असर से बच निकला मुश्किल हो गया है। लेकिन अब वह जमाना भी नहीं रहा, जब विद्यार्थी जो कुछ मिलता था, उसी में सन्तुष्ट रह लिया करते थे। अब तो वे बड़े-बड़े तूफान भी खड़े कर लिया करते हैं। छोटी-छोटी बातों के लिए भूख-हड़ताल तक कर देते हैं। अब ईश्वर उन्हें बुद्धि दे, तो वे कह सकते हैं, ''हमें अपनी मातृभाषा में पढ़ाओ।'' मुझे यह जानकर खुशी हुई कि यहाँ आन्ध्र के 250 विद्यार्थी हैं। क्यों न वे सर राधाकृष्णन के पास जाएँ और उनसे कहें कि यहाँ हमारे लिए एक आन्ध्र-विभाग खोल दीजिए, और तेलुगु में हमारी सारी पढ़ाई का प्रबन्ध कर दीजिए? और, अगर वे मेरी अक्ल से काम लें, तो उन्हें कहना चाहिए कि हम हिन्दुस्तानी हैं, चुनाँचे हमें ऐसी जबान में पढ़ाइए जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जा सके। और ऐसी जबान तो हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।

कहाँ जापान, कहाँ हम?

जापान आज अमेरिका और इंग्लैंड से लोहा ले रहा है। लोग इसके लिए उसकी तारीफ करते हैं। मैं नहीं करता। फिर भी जापान की कुछ बातें सचमुच हमारे लिए अनुकरणीय हैं। जापान के लड़कों और लड़कियों ने यूरोपवालों से जो कुछ पाया है, सो अपनी मातृभाषा जापानी के जरिये ही पाया है, अँग्रेजी के जरिये नहीं। जापानी लिपि बहुत कठिन है, फिर भी जापानियों ने रोमन लिपि को कभी नहीं अपनाया। उनकी सारी तालीम जापानी लिपि और जापानी जबान के जरिये ही होती है। जो चुने हुए जापानी पश्चिमी देशों में खास किस्म की तालीम के लिए भेजे जाते हैं, वे भी जब आवश्यक ज्ञान पाकर लौटते हैं, तो अपना सारा ज्ञान अपने देशवासियों को जापानी भाषा के जरिये ही देते हैं। अगर वे ऐसा न करते और देश में आकर दूसरे देशों के जैसे स्कूल और कॉलेज अपने यहाँ भी बना लेते, और अपनी भाषा को तिलांजलि देकर अँग्रेजी में सब कुछ पढ़ाने लगते, तो उससे बढ़कर बेवकूफी और क्या होती? इस तरीके से जापान वाले नयी भाषा तो सीखते, लेकिन नया ज्ञान न सीख पाते। हिन्दुस्तान में तो आप हमारी महत्त्वकांक्षा ही यह रहती है कि हमें किसी तरह कोई सरकारी नौकरी मिल जाए, या हम वकील, बैरिस्टर, जज बगैरा बन जाएँ। अँग्रेजी सीखने में हम

बरसों बिता देते हैं, तो भी सर राधाकृष्णन या मालवीयजी महाराज के समान अँग्रेजी जानने वाले इनमें कितने पैदा किये हैं? आखिर वह एक परायी भाषा ही है न? इतनी कोशिश करने पर भी हम उसे अच्छी तरह सीख नहीं पाते। मेरे पास सैकड़ों खत आते रहते हैं, जिनमें कई एम. ए. पास लोगों के भी होते हैं। परन्तु चूँकि वे अपनी जबान में नहीं लिखते, इसलिए अँग्रेजी में अपने खयाल अच्छी तरह जाहिर नहीं कर पाते।

चुनाँचे यहाँ बैठे-बैठे मैंने जो कुछ देखा, उसे देखकर मैं तो हैरान रह गया! जो कार्रवाई अभी यहाँ हुई, जो कुछ कहा या पढ़ा गया, उसे इतनी उदारता और धीरज है कि वह चुपचाप सभा में बैठी रहती है, और खाक समझ में न आने पर भी यह सोचकर सन्तोष कर लेती है कि आखिर ये हमारे नेता ही हैं? कुछ अच्छी ही बात कहते होंगे। लेकिन इससे उसे लाभ क्या? वह तो जैसी आयी थी, वैसी ही खाली लौट जाती है। अगर आपको शक हो, तो मैं अभी हाथ उठवाकर लोगों से पूछूँ कि यहाँ की कार्रवाई में वे कितना कुछ समझे हैं? आप देखिएगा कि वे सब 'कुछ नहीं', 'कुछ नहीं', कह उठेंगे। यह तो हुई आम जनता की बात। अब अगर आप यह सोचते हों कि विद्यार्थियों में से हर एक ने हर बात को समझा है, तो वह दूसरी बड़ी गलती है।

आज से पच्चीस साल पहले मैं यहाँ आया था, तब भी मैंने यही सब बातें कही थीं। आज यहाँ आने पर जो हालत मैंने देखी, उसने उन्हीं चीजों को दोहराने के लिए मुझे मजबूर कर दिया।

शारीरिक ह्रास

दूसरी बात जो मेरे देखने में आयी, उसकी तो मुझे जरा भी उम्मीद न थी। आज सुबह मैं मालवीयजी महाराज के दर्शन को गया था। वसन्त-पंचमी का अवसर था, इसलिए सब विद्यार्थियों को जो तालीम मिलनी चाहिए, वह उन्हें चलते आना चाहिए, उस तरह चलना उन्होंने सीखा ही न था। यह कोई मुश्किल काम नहीं; कुछ ही समय में सीखा जा सकता है। सिपाही जब चलते हैं, तो सिर उठाये, सीना ताने, तीर की तरह सीधे चलते हैं। लेकिन विद्यार्थी तो उस वक्त आड़े-टेढ़े, आगे-पीछे, जैसा जिसका दिल चाहता था, चलते थे। उनके उस 'चलने' को चलना कहना भी शायद मुनासिब न हो। मेरी समझ में तो इसका कारण भी यही है कि हमारे विद्यार्थियों पर अँग्रेजी जबान का बोझ इतना पड़ जाता है कि उन्हें दूसरी तरफ सर उठा कर देखने की फुरसत ही नहीं मिलती। यही वजह है कि उन्हें दरअसल तो सीखना चाहिए, उसे वे सीख नहीं पाते।

बौद्धिक थकान

एक और बात मैंने देखी। आज सुबह हम श्री शिवप्रसाद गुप्त के घर से लौट रहे

थे। रास्ते में विश्वविद्यालय का विशाल प्रवेश-द्वार पड़ा। उस पर नजर गयी तो देखा, नागरी लिपि में 'हिन्दू विश्वविद्यालय' इतने छोटे हर्फों में लिखा है कि ऐनक लगाने पर भी वे नहीं पढ़े जाते। पर अँग्रेजी में Benares Hindu University ने तीन चौथाई से भी ज्यादा जगह घेर रखी थी। मैं हैरान हुआ कि यह क्या मामला है? इसमें मालवीयजी महाराज का कोई कसूर नहीं, यह तो किसी इंजीनियर का काम होगा। लेकिन सवाल तो यह है कि अँग्रेजी की वहाँ जरूरत ही क्या थी? क्या हिन्दी या फारसी में कुछ नहीं लिखा जा सकता था? क्या मालवीयजी, और क्या सर राधाकृष्णन, सभी हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहते हैं। फारसी मुसलमानों की अपनी खास लिपि मानी जाने लगी है। उर्दू का देश में अपना खास स्थान है। इसलिए अगर दरवाजे पर फारसी में, नागरी में या हिन्दुस्तान की दूसरी किसी लिपि में कुछ लिखा जाता, तो मैं उसे समझ सकता था। लेकिन अँग्रेजी में उसका वहाँ लिखा जाना भी हम पर जमे हुये अँग्रेजी जबान के साम्राज्य का एक सबूत है। किसी नई लिपि या जबान को सीखने से हम घबराते हैं; जब कि सच तो यह है कि हिन्दुस्तान की किसी जबान या लिपि को सीखना हमारे लिए बायें हाथ का खेल होना चाहिये। जिसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी आती है, उसे मराठी, गुजराती, बांग्ला बगैरा सीखने में तकलीफ ही क्या हो सकती है? कन्नड़, तामिल, तेलुगु और मलयालम का भी मेरा तो यही तजुरबा है। इनमें भी संस्कृत के और संस्कृत से निकले हुए काफी शब्द भरे पड़े हैं। जब हममें अपनी मादरी जबान या मातृभाषा के लिए सच्ची मुहब्बत पैदा हो जाएगी, तो हम इन तमाम भाषाओं को बड़ी आसानी से सीख सकेंगे। रही बात उर्दू की, सो वह भी आसानी के साथ सीखी जा सकती है। लेकिन बदकिस्मती से उर्दू के आलिम यानी विद्वान इधर उसमें अरबी और फारसी के शब्द ठूँस-ठूँसकर भरने लगे हैं उसी तरह जिस तरह हिन्दी के विद्वान हिन्दी में संस्कृत शब्द भर रहे हैं। नतीजा इसका यह होता है कि जब मुझ जैसे आदमी के सामने कोई लखनवी तर्ज की उर्दू बोलने लगता है, तो सिवा बोलने वाले का मुँह ताकने के और कोई चारा नहीं रहा जाता।

एक बात और। पश्चिम के हर एक विश्वविद्यालय की अपनी एक न एक विशेषता होती है। कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड को ही लीजिए। उन विश्वविद्यालयों को इस बात का नाज है कि उनके हर एक विद्यार्थी पर उनकी अपनी विशेषता की छाप इस तरह लगी रहती है कि वे फौरन पहचाने जा सकते हैं। हमारे देश के विश्वविद्यालयों की अपनी ऐसी कोई विशेषता होती ही नहीं। वे तो पश्चिमी विश्वविद्यालयों की एक निस्तेज और निष्प्राण नकल-भर हैं। अगर हम उन्हें पश्चिमी सभ्यता का महज सोख्ता या स्याही सोख कहें, तो शायद बेजा न होगा। आपके इस विश्वविद्याय के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि यहाँ शिल्पशिक्षा और यन्त्र-शिक्षा का यानी इंजीनियरिंग और टेक्नोलॉजी का

देशभर में सबसे ज्यादा विकास हुआ है, और इनकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध है। लेकिन इसे मैं यहाँ की विशेषता मानने को तैयार नहीं। तो फिर इसकी विशेषता क्या हो? मैं इसकी एक मिसाल आपके सामने रखना चाहता हूँ। यहाँ जो इतने हिन्दू विद्यार्थी हैं, उनमें से कितनों ने मुसलमान विद्यार्थियों को अपनाया है? अलीगढ़ के कितने छात्रों को आप अपनी ओर खींच सके हैं? दरअसल आपके दिल में चाह तो यह पैदा होनी चाहिए कि आप मुसलमान विद्यार्थियों को यहाँ बुलाएँगे और उन्हें अपनाएँगे।

हिन्दुस्तान की पुरानी संस्कृति का सन्देश

इसमें शक नहीं कि आपके विश्वविद्यालय को काफी धन मिल गया है, और जब तक मालवीयजी महाराज हैं, आगे भी मिलता रहेगा। लेकिन मैंने जो कुछ कहा है, वह रुपये का खेल नहीं। अकेला रुपया सब काम नहीं कर सकता। हिन्दू विश्वविद्याय से मैं विशेष आशा तो इस बात की रखूँगा कि यहाँ वाले इस देश में बसे हुए सभी लोगों को हिन्दुस्तानी समझें, और अपने मुसलमान भाइयों को अपनाने में किसी से पीछे न रहें। अगर वे आप से पास न आएँ, तो आप उनके पास जाकर उन्हें अपनाइए। अगर इसमें हम नाकामयाब भी हुए तो क्या हुआ? लोकमान्य तिलक के हिसाब से हमारी सभ्यया दस हजार बरस पुरानी है। बाद के कई पुरातत्त्व-शास्त्रियों ने उसे इससे भी पुरानी बताया है। इस सभ्यता में अहिंसा को परम धर्म माना गया है। चुनाँचे इसका कम से कम एक नतीजा तो यह होना चाहिए कि हम किसी को अपना दुश्मन न समझें। वेदों के समय से हमारी यह सभ्यता चली आ रही है। जिस तरह गंगाजी में अनेक नदियाँ आकर मिली हैं, उसी तरह इस देश की संस्कृति-गंगा में भी अनेक संस्कृति रूपी सहायक नदियाँ आकर मिली हैं। यदि इन सबका कोई सन्देश या पैगाम हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को अपनाएँ और किसी को अपना दुश्मन न समझें। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह हिन्दू विश्वविद्यालय को यह सब करने की शक्ति दे। यही इसकी विशेषता हो सकती है। सिर्फ अँग्रेजी सीखने से यह काम नहीं हो पाएगा। इसके लिए तो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों और धर्म-शास्त्रों का श्रद्धापूर्वक यथार्थ अध्ययन करना होगा, और यह अध्ययन हम मूल ग्रन्थों के सहारे ही कर सकते हैं।

(हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के दीक्षान्त समारोह में दिया गया भाषण)

कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

प्रेमचन्द

बहनो और भाइयो,

किस क़ौम के जीवन और उसकी तरक्की में भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते हैं, और उसकी तशरीह करना आप- जैसे विद्वानों की तौहीन करना है। यह दो पैरोंवाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यों तो सभी जीवधारियों की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी खुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हाँ या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारों में ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते हैं। यह दर्जा आदमी ही को हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफाई और बारीकी से बयान करे।

समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बगैर किसी समाज का ख्याल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालातें सब मिल-जुलकर वहाँ के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल-सूरत, व्यवहार-विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है। यों कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शक्ल-सूरत, हमारे रंग-रूप ही की भाँति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यों-ज्यों हमारी आत्मा का विकास होता है, हमारी भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि में जो लोग इशारों में बात करते थे, फिर अक्षरों में अपने भाव प्रकट करने लगे, वही लोग फिलासफी लिखते और शायरी करते हैं, और जब जमाना बदल जाता है और हम उस जगह से निकलकर दुनिया के दूसरे हिस्सों में आबाद हो जाते हैं, हमारा रंग-रूप भी बदल जाता है। फिर भी भाषा सदियों तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हमजबान हैं, उनमें एक अपनापन, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल-मिलाप के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालने वाला रिश्ता भाषा

का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमजोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं; लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखेरने वाली शक्तियों की परवाह नहीं करता, और एक तरह से अमर हो जाता है।

लेकिन आदि में मनुष्यों के जैसे छोटे-छोटे समूह होते हैं, वैसी ही छोटी-छोटी भाषाएँ भी होती हैं। अगर गौर से देखिए, तो बीस-पचीस कोस के अन्दर ही भाषाओं में कुछ-न-कुछ फर्क हो जाता है। कानपुर और झाँसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अन्तर है; लेकिन नदी की उत्तर तरफ कानपुर में जो भाषा बोली जाती है, उसमें और नदी की दक्षिण तरफ की भाषा में साफ-साफ फर्क नजर आता है। सिर्फ प्रयाग में कम-से-कम दस तरह की भाषाएँ बोली जाती हैं। लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएँ किसी सूबे की भाषा में जा मिलती हैं और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। हिन्दी ही में ब्रजभाषा, बुन्देलखंडी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं; लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह से सभी प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी की मातहत हो गयी हैं और आज उत्तर भारत का एक देहात भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है। लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गयी है, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाए, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें, जिसे हिन्दुस्तान का पढ़ा-बे-पढ़ा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अँग्रेज या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अँग्रेजी भाषा बोलता और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें। लेकिन एक क़ौमी भाषा का मरकज़ी सहारा लिये बगैर आपके राष्ट्र की जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती। हमें रंज के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हमने क़ौमी भाषा की ओर जितना ध्यान देना चाहिए, उतना नहीं दिया है। हमारे पूज्य नेता सब-के-सब ऐसी जबान की जरूरत को मानते हैं; लेकिन अभी तक उनका ध्यान खास तौर पर इस विषय की ओर नहीं आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हैं, जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ अँग्रेजी हुकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी क़ौमियत की मीनार खड़ी की जा रही है। और अगर हमने क़ौमियत की सबसे बड़ी शर्ते, यानी क़ौमी जबान की तरफ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी क़ौम को जिन्दा रखने के लिए अँग्रेजी की मरक़जी हुकूमत का कायम रहना लाजिमी होगा, वरना कोई मिलाने वाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जाएँगे और प्रान्तीयता पकड़कर राष्ट्र का गला घोंट देगी, और जिस बिखरी हुई दशा में हम अँग्रेजों के आने के पहले थे, उसी में फिर लौट जाएँगे।

इस लापरवाही का खास सबब है— अँग्रेजी जबान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें

आत्मसम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती। यह दुरुस्त है कि आज भारत की दफ्तरी जबान अँग्रेजी है और भारत की जनता पर शासन करने में अँग्रेजों का हाथ बटाने के लिए हमारा अँग्रेजी जानना जरूरी है। इल्म और हुनर और ख्यालात में जो इन्कलाब होते रहते हैं, उनसे वाक़िफ़ होने के लिए भी अँग्रेजी जबान सीखना लाजिमी हो गया है। जाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियाँ अँग्रेजी के हाथ में हैं और कोई भी उस खजाने को नाचीज नहीं समझ सकता। दुनिया की तहजीब या सांस्कृतिक बिरादरी में मिलने के लिए अँग्रेजी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आँख नहीं बन्द कर सकते। लेकिन हम दौलत और अख्तियार की दौड़ में, और बेतहाशा दौड़ में क़ौमी भाषा की जरूरत बिल्कुल भूल गये और उस जरूरत की याद कौन दिलाता? आपस में तो अँग्रेजी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रान्तीय भाषा से सारी जरूरतें पूरी हो जाती थीं। क़ौमी भाषा का स्थान अँग्रेजी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अँग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अँग्रेजी भाषा का है। अँग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं; लेकिन अँग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अँग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं। लेकिन अँग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है। उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जाएगा। पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अँग्रेजीदाँ और गैर-अँग्रेजीदाँ का भेद है। अँग्रेजीदाँ आर्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत, कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है। गैर-अँग्रेजीदाँ अनार्य है और उसका काम केवल आर्यों की सेवा-टहल करना है और उनका भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात चौगुनी। अगर सौ-दो सौ साल में भी वह सारे भारत में फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी जबान है, हमारा काम तो चलता है; लेकिन इधर तो हजार-दो हजार साल में भी उसके जनता में फैलने का इमकान नहीं है। दूसरे वह पढ़े-लिखे को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहाँ तक कि इनमें एक दीवार खिंच गयी है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा में कुछ तो उसके घमंड और दबदबे का असर होना ही चाहिए। हम अँग्रेजी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अंग भूलकर हाकिम जाति का अंग समझने लगते हैं, कुछ वही गरूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनीं दगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतों में कसदन, और थोड़े आदमियों में बेजाने पैदा हो जाते हैं, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गयी है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नयी उपज है। जो हमारा अँग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता

है, करने पर मजबूर है। अँग्रेजियत ने इसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमें बेहद उदारता आ गयी है, छूतछात से सोलहो आना नफरत हो गयी है, वह अँग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा; लेकिन जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हाँ, जब कभी अँग्रेजी साहबों से उसे ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फरियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भाग्य समझता है। अगर अँग्रेजी स्वामी उसे नौकरियाँ देता जाए, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का कभी ख्याल भी न आएगा। मुश्किल तो यही है कि वहाँ भी गुंजाइश नहीं है। ठोकरें-पर-ठोकरें मिलती हैं, तब यह क्लास देश-भक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका जोर लेकर अँग्रेज साहब का मुकाबिला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुँच सके। काँग्रेस को थोड़ा-बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा में अपील करने में मिला। हिन्दुस्तान में इस वक्त करीब चौबीस-पचीस करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते हैं। यह क्या दुःख की बात नहीं है कि वे जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सकें, जो पचीस करोड़ की भाषा है, और जो थोड़ा-सी कोशिश से सारे भारतवर्ष की भाषा बन सकती है? लेकिन अँग्रेजी के चुने हुए शब्दों और मुहावरों और मँजी हुई भाषा में अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढ़ा हुआ है कि हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अँग्रेजी में होती है, अँग्रेजी में भाषण दिये जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा-पढ़ी अँग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे-बरदार हैं, सभी कार्यवाही अँग्रेजी में करते हैं। जब हमारी कौमी संस्थाओं की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और यूनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें? मगर सौ वर्ष तक अँग्रेजी पढ़ने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अँग्रेजी में आदर हो। हम अँग्रेजी भाषा की खैरात खाने के इतने आदी हो गये हैं कि अब हमें हाथ-पाँव हिलाते कष्ट होता है। हमारी मनोवृत्ति कुछ वैसी ही हो गयी है, जैसी अक्सर भिखमंगों की होती है जो इतने आरामतलब हो जाते हैं कि मजदूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है। और जनता क़ौमी भाषा बनाने में लगी हुई है। उसका अँग्रेजी न जानना, क़ौम की भाषा के लिए अनुकूल जलवायु दे रहा है इधर सिनेमा के प्रचार ने भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है। और ज्यादातर फ़िल्में हिन्दुस्तानी भाषा में ही निकल रही हैं। सभी ऐसी भाषा में बोलना चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, लेकिन अब जनता अपने रहनुमाओं को अँग्रेजी में बोलते और लिखते देखती है, तो क़ौमी भाषा से उसे जो

हमदर्दी है, उसमें जोर का धक्का लगता है, उसे कुछ ऐसा ख्याल होने लगता है कि क़ौमी भाषा कोई जरूरी चीज नहीं है। जब उसके नेता, जिसके कदमों के निशान पर वह चलती है, और जो जनता की रुचि बनाते हैं, क़ौमी भाषा को हकीर समझें–सिवाय इसके लिए कभी–कभी श्रीमुख से उसकी तारीफ कर दिया करें—तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह क़ौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जाएगी, उसे बेवकूफ समझना है और जनता को आप जो चाहें इल्ज़ाम दे लें, वह बेवकूफ नहीं है। अपनी समझदारी का जो तराजू अपने दिल में बना रखा है उस पर वह चाहे पूरी न उतरे; लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज्यादा समझदार है। क़ौमी भाषा के प्रचार का एक बड़ा जरिया हमारे अखबार हैं; लेकिन अखबारों की सारी शक्ति नेताओं के भाषणों, व्याख्यानों और बयानों के अनुवाद करने में ही खर्च हो जाती है, और चूँकि शिक्षित समाज ऐसे अखबार खरीदने और पढ़ने में अपनी हद तक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रों का प्रचार बढ़ने नहीं पाता और आमदनी कम होने के सबब वे पत्र को मनोरंजक नहीं बना सकते। वाइसराय या गवर्नर अँग्रेजी में बोलें, हमें कोई एतराज नहीं। लेकिन अपने ही भाइयों के खयालात तक पहुँचने के लिए हमें अँग्रेजी से अनुवाद करना पड़े, यह हालत भारत जैसे गुलाम देश के सिवाय और कहीं नजर नहीं आ सकती। और जबान की गुलामी ही असली गुलामी है। ऐसे भी देश संसार में हैं, जिन्होंने हुक्मरान जाति की भाषा को अपना लिया। लेकिन उन जातियों के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी, और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चों की तरह थे, जो थोड़े ही दिनों में अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नयी भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती; हालाँकि लक्षण सब वही हैं।

सवाल यह होता है कि जिस क़ौमी भाषा पर इतना जोर दिया जा रहा है, उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभी तक हम उसकी कोई खास सूरत नहीं बना सके हैं, इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे, वे अँग्रेजी के पुजारी थे और हैं; मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा–से–ज्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबेवाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। सिर्फ हिन्दुस्तानी उतरती है, क्योंकि मेरे खयाल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक ज़बान हैं। क्रिया और कर्ता, फेल और फाइल, जब एक हैं, तो उनके एक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी ज़बान है, जिसमें फारसी–अरबी के लफ्ज ज्यादा हों, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है, जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हों; लेकिन जिस तरह अँग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अँग्रेजी हैं, उसी भाँति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों में मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बातचीत में तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं। थोड़ी–सी कोशिश से हम इसका व्यवहार

उन सभी कामों में कर सकते हैं, जिनसे जनता का सम्बन्ध है। मैं यहाँ एक उर्दू पत्र में दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ कर देना चाहता हूँ—

'एक जमाना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बगैर कोई घर खाली न था। चक्की-चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मजबूत और जफाकश होते थे। मगर अब तो अँग्रेजी तहजीब और मुआशरत न सिर्फ शहरों में ही नहीं देहातों में भी काया पलट दी है। हाथ की चक्की के बजाय अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गाँवों में चक्की न रही, तो चक्की का पर गीत कौन गाए? जो बहुत गरीब हैं, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते हैं। चक्की पीसने का वक्त अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। ''सरे शाम ही से पीसने के लिए अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती हैं।''

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूँ, जिसे समझने में किसी भी हिन्दी समझने वाले आदमी को जरा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मैं उर्दू का तीसरा पैरा देता हूँ—

''उसकी वफ़ा का जज़्बा सिर्फ़ जिन्दा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी, कि न सिर्फ जिन्दा जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी खुद को कुरबान कर देती थी। अगर मौत का ज़ालिम हाथ उसके रफ़ीक़ हयात को छीन लेता था। तो वह बाक़ी ज़िन्दगी उसके नाम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख्स का ख्याल भी उसके वफ़ापरस्त दिल में भूलकर भी न उठता था।''

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखें—''वह सिर्फ जिन्दा आदमियों के साथ वफा न करती थी'' और 'वफापरस्त' की जगह 'प्रेमी' 'रफीक हयात' की जगह 'जीवनसाथी' का व्यवहार करें, तो वह साफ हिन्दुस्तानी बन जाएगी और फिर उसके समझने में किसी को दिक्कत न होगी।'' अब मैं एक हिन्दी-पत्र से एक पैरा नकल करता हूँ—

''मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नये-नये आविष्कारों से बेकारी बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही-सही कमी को और भी पूरा कर देती है। बेकारी की समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए यही काफी था; लेकिन इसके ऊपर संसार में हर दसवें साल की जनसंख्या देखने से मालूम हो रहा है कि जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। पूँजीवाद कुछ लोगों को धनी बनाकर उसके लिए सुख और विलास की नयी-नयी सामग्री जुटा सकता है।''

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान की शैली का नमूना है, इसमें 'प्रयोग', 'आविष्कार', 'समस्या' यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदाँ लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाकी

सभी भाषाओं के बोलने वालों की समझ में आ सकते हैं। इससे साबित हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू में कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम क़ौमी भाषा बना सकते हैं। हमें सिर्फ अपने शब्दों का कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह भी ज्यादा नहीं। एक-दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिए—

''अपने साथ रहने वाले नागरिकों के साथ हमारा जो रोज-रोज का सम्बन्ध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्यायकर्ता, जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य बढ़ने नहीं पाते? न्यायकर्ता तो सदा खूँखार बनाता रहता है, क्योंकि वह कानून का पागल है। अभियोग लगाने वाला, पुलिस को खबर देने वाला, पुलिस का गुप्तचर तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के इर्द-गिर्द मँडराया करते हैं और किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज में दुर्नीति का प्रचार नहीं करते? मामलों-मुक़दमों की रिपोर्ट पढ़िए, पर्दे के अन्दर नजर डालिए, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइए, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आपका सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा।''

यहाँ अगर हम 'समाज-विरोधी' की जगह 'समाज को नुकसान पहुँचाने वाले', 'अभियोग' की जगह 'जुर्म', 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'श्रेणी' की जगह 'दर्जा', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई', 'विश्लेषक बुद्धि' की जगह 'परख', 'परिमित' की जगह 'बन्द' लिखें, तो वह सरल और सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

इन उदाहरणों या मिसालों से जाहिर है कि हिन्दी-कोष में उर्दू के और उर्दू-कोष में हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि थोड़े दिन पहले फ़ारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रिवाज पा गये हैं, उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो कठिनाई होती है, उसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही देख लिया और उन्होंने हजारों संस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सकें। ब्रजभाषा और अवधी में इसको बहुत-सी मिसालें मिलती हैं, जिन्हें यहाँ लाकर मैं आपका समय नहीं खराब करना चाहता। इसलिए क़ौमी भाषा में उसका वही रूप रखना पड़ेगा, और संस्कृत शब्दों की जगह, जिन्हें सर्व-साधारण नहीं समझते, ऐसे फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गये हैं कि उनको समझने में जनता को कोई दिक्कत नहीं होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने संस्कृत पढ़ी हो। जुर्म का मतलब बे-पढ़े भी समझते हैं। 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई' ज्यादा सरल शब्द हैं। शुद्ध हिन्दी के भक्तों को मेरे इस बयान से मतभेद हो सकता है लेकिन अगर हम ऐसी क़ौमी जबान चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए

दूसरा रास्ता नहीं है, और यह कौन नहीं चाहता कि उसकी बात ज्यादा-से-ज्यादा लोग समझें, ज्यादा-से-ज्यादा आदमियों के साथ उसका आत्मिक सम्बन्ध हो। हिन्दी में एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूँकि हिन्दुस्तान की सभी सूबेवाली भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उनमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं इसलिए हिन्दी में हमें अधिक-से-अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहिए; ताकि अन्य प्रान्तों के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी का कोई फायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलने वाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलने वाला आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज्यादा फ़ारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा की पवित्रता की धुन में तोड़-मरोड़ डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ-न-कुछ अन्तर होता है, लेकिन लिखित भाषा सदैव बोलचाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोलचाल की भाषा भी अक्सर और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाषा से अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए; लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े। फारसी शब्दों में शीन-काफ की बड़ी कैद है; लेकिन क़ौमी भाषा में यह कैद ढीली करनी पड़ेगी। पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' की जगह 'क' ही का व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल में तो भाषा के लिए सबसे महत्त्व की चीज है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी चाहे वे किसी प्रान्त के रहने वाले हों, समझें, बोलें और लिखें। ऐसी भाषा न पंडिताऊ होगी और न मौलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच में है। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती और शब्दों के विन्यास की बहुत थोड़ी गुंजाइश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता; बल्कि उसे बना-सँवारकर रखना चाहता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावन्त राग-रागिनियाँ गाते समय केवल संगीत के आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुनने वालों में कितने अनाड़ी बैठे हैं, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमें राष्ट्र-भाषा का प्रचार करना है, तो हमें इस लालच को दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर ख़ास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भाषा कानों और आँखों को खटकेगी जरूर, कहीं गंगा-मदार का जोड़ नजर

आएगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओं के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले ही तरह मजा बिगाड़ देंगे। पंडित जी भी खिलखिलाएँगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोड़ेंगे और चारों तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे जबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिए यह साजिश की गयी है, हिन्दी को डुबोने के लिए यह माया रची गयी है। लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भी बनना पड़ेगा। जैसे रईसों और अमीरों ही से राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर हम राष्ट्र-भाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्र-भाषा तो बाजारों में और गलियों में बनती है; लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, उधर अपनी-अपनी जबानों के दरवाजों पर संगीनें लिये खड़े रहते हैं कि कोई उसकी तरफ आँख न उठा सके। हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिला तकल्लुफ स्थान देते हैं, लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों को भी अन्दर नहीं आने दे। यह चुन-चुनकर हिन्दी की जगह फारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। जरा-जरा से मुजक्कर और मुअन्नस से भेद पर तूफान मच जाया करता है। उर्दू ज़बान सिरात का पुल बनकर रह गयी है, जिससे जरा इधर-उधर हुए और जहन्नुम में पहुँचे। जहाँ राष्ट्र-भाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ सबसे बड़ी दिक्कत इसी लिंग-भेद के कारण पैदा हो रही है। हमें उर्दू के मौलवियों और हिन्दी के पंडितों से उम्मीद नहीं कि वे इन फन्दों में कुछ को नर्म करेंगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा का होगा कि वह जहाँ तक हो सके, निरर्थक कैदों से आजाद हो। आँख क्यों स्त्री लिंग है और कान क्यों पुल्लिंग है, इसका कोई सन्तोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जो संस्था जनता की भाषा का बायकाट करती है, उस पर दूर ही से लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं, फिर चाहे वे समाजवाद या समष्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आएँ। सम्भव है, इस वक्त आपको राष्ट्र-भाषा की जरूरत न मालूम होती हो और अँग्रेजी से आपका काम मजे से चल सकता हो, लेकिन अगर आगे चलकर हमें फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमें उन सारे नातों को मजबूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें क़ौमी भाषा का स्थान सबसे ऊँचा नहीं, तो किसी से कम भी नहीं है। जब तक आप अँग्रेजी को अपनी क़ौमी भाषा बनाये हुए हैं, तब तक आपको आजादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता। वह भीतर की आत्मा से निकली हुई तहरीक नहीं है, केवल आजादी

के शहीद बन जाने की हविस है। यहाँ जय-जय के नारे और फूलों की वर्षा न हो; लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान को एक क़ौम देखना चाहते हैं—इसलिए नहीं कि वह क़ौम कमजोर क़ौमों को दबाकर, भाँति-भाँति के मायाजाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाये और अपनी ताकत पर घमंड करे, बल्कि इसीलिए कि वह आपस में महदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें यह योग्य बनाये कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें—उनका यह फर्ज है कि क़ौमी भाषा के विकास और प्रचार में वे हर तरह मदद करें। और यहाँ सब कुछ हमारे हाथ में है। विद्यालयों में हम क़ौमी भाषा के दर्जे खोल सकते हैं। हर एक ग्रेजुएट के लिए क़ौमी भाषा में बोलना और लिखना लाजिमी बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में, चाहे वह मराठी हो या गुजराती या अँग्रेजी या बंगला, एक-दो कॉलम क़ौमी भाषा के लिए अलग कर सकते हैं। अपने प्लेटफार्म पर क़ौमी भाषा का व्यवहार कर सकते हैं। आपस में क़ौमी भाषा में बातचीत कर सकते हैं। जब तक मुल्की दिमाग अँग्रेजों की गुलामी में खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मायने में राष्ट्र न बन सकेगा। यह भी जाहिर है कि प्रान्त या एक भाषा के बोलने वाले क़ौमी भाषा नहीं बना सकते। क़ौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रान्तों के दिमागदार लोग उसमें सहयोग देंगे। सम्भव है कि दस-पाँच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाए कोइ पश्चिम; लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शान्त हो जाएगा और जहाँ केवल धूल और अन्धकार और गुबार था, वहाँ हरा-भरा साफ़-सुथरा मैदान निकल आएगा। जिनके कलम में मर्दों को जिलाने और सोतों को जगाने की ताकत है, वे सब वहाँ बिचरते हुए नजर आएँगे। तब हमें टैगोर, मुंशी और देसाई और जोशी की कृतियों से आनन्द और लाभ उठाने के लिए मराठी और बांग्ला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। क़ौमी भाषा के साथ क़ौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी सम्पन्न और सरसब्ज भाषाओं की मजलिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रान्तीय न होकर क़ौमी हो जाएगा। इस अँग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर बैलेस, गाई बूथबी जैसे लेखकों से हम जितने मनहूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत और मुंशी और 'प्रसाद' की रचनाओं से नहीं। टैगोर भी अँग्रेजी में न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते। मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गांधी के सिवाय किसी भी दिमाग ने क़ौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया। यह काम क़ौमी सभाओं का है कि यह क़ौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमगे दें, उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगैंडा करें। राष्ट्र के रूप में संघटित हुए बगैर हमारा दुनिया में जिन्दा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन-सी है। मगर दूसरी क़ौमों के साथ क़ौमी भाषा देखकर सिद्ध होता है

कि क़ौमियत के लिए लाजिमी चीजों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनना है, उसे एक क़ौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस हक़ीकत को मानते हैं, लेकिन सिर्फ खयाल में। उस पर अमल करने का हममें साहस नहीं है। यह काम इतना बड़ा और मार्के का है कि इसके लिए एक ऑल इंडिया संस्था का होना जरूरी है, जो इसके महत्त्व को समझती हुई इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

भाषा और लिपि का सम्बन्ध इतना करीबी है कि आप एक को लेकर दूसरे को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएँ हैं, उनको एक लिपि में लिखने में कोई बाधा नहीं है, थोड़ा-सा प्रान्तीय संकोच चाहे हो। पहले भी स्व. बाबू शारदाचरण मित्रा ने एक 'लिपिविस्तार-परिषद्' बनायी थी और कुछ दिनों तक एक पत्र निकालकर वह आन्दोलन चलाते रहे; लेकिन उससे कोई खास फायदा न हुआ। केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओं का अन्तर कम नहीं होता और हिन्दी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि में। प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रान्तीय लिपियों में लिखते जाएँ, कोई एतराज नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास मोह है बल्कि इसलिए कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन उर्दू लिपि हिन्दी से बिल्कुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर ज़बान एक हो जाए तो, लिपि का में कोई महत्त्व नहीं रखता। अगर उर्दूदाँ आदमी को मालूम हो जाए कि केवल हिन्दी अक्षर लिखकर वह टैगोर या महात्मा गांधी के विचारों को पढ़ सकता है, तो वह हिन्दी सीख लेगा। यू.पी. के प्राइमरी स्कूलों में तो दोनों लिपियों की शिक्षा दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता है। जहाँ तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदाँ को एतराज न होगा। स्कूलों में हफ्ते में एक घंटा दे देने से हिन्दी वालों को उर्दू और उर्दू वालों को हिन्दी लिपि सिखायी जा सकती है। लिखने के विषय में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। उर्दू में स्वर आदि के ऐब होने पर भी उसमें गति का एक ऐसा गुण है कि उर्दू जानने वाले उसे नहीं छोड़ सकते और जिन लोगों का इतिहास और संस्कृति और गौरव उर्दू लिपि में सुरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत में उसके छोड़ने की आशा भी नहीं की जा सकती। उर्दूदाँ लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते हैं, इसका लाजिम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जाएँगे और राष्ट्रभाषा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जाएगा। लिपि का फैसला समय करेगा। जो ज्यादा जानदार है, वह आगे आयेगी। दूसरी पीछे रह जाएगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही राष्ट्र-लिपि हैं और हमें अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि में उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति, और हमारे संस्कार इसका फैसला करेंगे।

(बम्बई के 'राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन' में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से 27-10-34 को दिया गया भाषण)

भाषा-योजना की समस्या

हजारी प्रसाद द्विवेदी

भाषा-योजना की समस्या पर विवेचना करना बड़ा कठिन कार्य है। अपने देश में ऐसा लग रहा है कि जनतन्त्र धीरे-धीरे बदल रहा है। इस जनतन्त्र का क्या रूप होगा? यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसकी अनेक समस्याएँ हैं। मुख्य बात यह है कि साधारण जनता का जो शासन है, चाहे वह शासन कैसा भी हो— यही जनतन्त्र है। वह कोई स्थिर वस्तु नहीं है— जैसा कि अभी तक हमने एक संविधान बनाया है, जिसमें अनेक संशोधन किये और होते रहते हैं। लगता है कि यह प्रक्रिया कुछ दिन और चलेगी। मगर जनतन्त्र का सीधा अर्थ है— साधारण जनता का शासन, साधारण जनता का राज्य। साधारण जनता की वह बोली जिसमें साधारण जनता बातचीत करती है, बोलती है, कहती है, सुनती है, विचारती है।

लेकिन जैसे-जैसे हम कार्यक्षेत्र में बढ़ते हैं वैसे-वैसे इस व्याख्या की कठिनाइयाँ भी मालूम होने लगती हैं। हमारे देश में शब्द-निर्माण-प्रक्रिया काफी समय से चल रही है। अँग्रेजी राज्य में, जबकि जनतन्त्र नहीं था, उस समय भी हमारे देश के जागरूक लोगों, कुछ ईसाई मिशनरियों, कुछ साहित्यिक-सभाओं-जैसे नागरी प्रचारिणी सभा ने तथा अन्य प्रदेशों की साहित्यिक सभाओं ने शब्दों का निर्माण प्रारम्भ किया। अब पूरी तरह विपरीत स्थिति है। हमारा देश बहुत दिनों तक परतन्त्र रहा है और इसके भीतर जो नयी शासन-प्रणालियाँ, नये-नये ढंग की जो चीजें हम देखते हैं, उन्हें हमने अँग्रेजी के सम्पर्क से सीखा है और स्वभावत: जब कि हमारी भाषाएँ एक बिन्दु पर आकर खड़ी हो गयीं, उस समय विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने बड़ी उन्नति की। फिर एकाएक हम जब स्वतन्त्र हुए तो मालूम हुआ कि हम बहुत पिछड़ गये हैं। हमारी भाषाएँ असमर्थ हैं, पंगु हैं; लिखने योग्य नहीं हैं। वे अँग्रेजी के समकक्ष काम नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि शासनतन्त्र, कानून और बड़ी-बड़ी अदालतों की भाषा अभी भी अँग्रेजी बनी हुई है। उसका कारण है कि लोगों को विश्वास ही नहीं होता कि फैसला कहीं देशी भाषा में भी हो सकता है। हालाँकि हजारों वर्षों तक इस देश में देशी भाषा में भी फैसला हुआ

है। लेकिन हम इस जनसम्पर्क में बड़ी 'नॉर्मल' अवस्था में आ गये हैं, क्योंकि अँग्रेजी का ही 'एबनर्मल' प्रयोग होता है। इस स्थिति में जैसा कि साधारण देशों का विकास होता है, जिसमें उनकी संस्कृतियाँ, उनकी सभ्यता, भाषागत स्थितियाँ, विचार-विमर्श करते समय प्रयोग में आती हैं, वैसा विकास हमारा नहीं हुआ है। काश, हमारी भाषाओं का विकास मूल में रहा होता तो आज की स्थिति न आयी होती।

अभी तक हमारी समझ में नहीं आ रहा है कि क्यों हम विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम हिन्दी नहीं अपना सके, जबकि हम जानते हैं कि किसी जमाने में जो आफत थी वह शासन के ऊपर से आती थी। वायसराय, गवर्नर जनरल, मन्त्री आदि से धीरे-धीरे उतरते-उतरते 'सर्कुलेशन' पटवारी तक पहुँचता था और शासन-तन्त्र चलता था। फिर एकाएक रूपवाद में पलट गया। नीचे से जो शक्ति आती है और नीचे से जनता जिनकों निर्वाचित करती है, वे ही ऊपर की ओर जाते हैं। लेकिन हम भी इसको ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहे हैं और हम यह समझते हैं कि कोई गवर्नर या कोई मन्त्री, जो बड़ा हो, जैसा कहेगा वैसा करना पड़ेगा। लेकिन वास्तव में अवस्था उलट गयी है। अब कोई भी मन्त्री हो या प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री हो, चाहे कोई देश का शासन करने वाला हो, मिलिटरी का अध्यक्ष हो या उसका सेक्रेटरी-यह जनता की मतगणना द्वारा हो। शक्ति नीचे से उठकर ऊपर की ओर जा रही है। ऊपर से चुनने वाली पद्धति अब समाप्त हो गयी है। इस चीज को ठीक से न समझने के कारण हम भी गलती करते हैं, जनता भी गलती करती है और जो जनता के नेता हैं, वे भी गलती करते हैं। वे समझते हैं कि एक बार जो नेता हो गया, वह हमेशा के लिए नेता हो गया। यह बड़ी भूल है। जो शक्ति में रहता है उसकी नीतियाँ कभी निष्फल भी हो सकती हैं। वह सोचता कुछ है, हो कुछ जाता है। क्योंकि इस समय जनतन्त्र का मतलब यह होता है कि कैसे शक्ति ऊपर जाएगी।

हम जो अभी तक इस भूलभुलैया में पड़े हैं कि हमारे देश की भाषा इस योग्य है ही नहीं कि हम उसमें ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दे सकें। हमारा यह भ्रम शीघ्र ही भंग होगा। साधारण जनता जिस समय उग्र रूप में प्रकट होगी, उस समय हम उसका निवारण नहीं कर सकेंगे। आज ही, हमें सावधान होकर इसके लिए अपने को और अपनी शक्ति को लगाकर इस योग्य करना है कि हमारे-उसके बीच बहुत अधिक व्यवधान न हो और जो हुआ है वह भी उलट जाए।

इस दिशा में अभी तक जो प्रयत्न हुआ है वह अँग्रेजी शब्दों के प्रयोग का है। यद्यपि वह अस्वाभाविक है, परन्तु हमारे देश की जो परिस्थिति रही है उसमें बिल्कुल स्वाभाविक है, क्योंकि वह इतिहास की देन है। इतिहास ने हमको डेढ़-दो सौ वर्षों तक एक ऐसी जाति के अधीन रखा जिसकी शिक्षा, विज्ञान और औद्योगिकी में अनेक दृष्टि से काफी बुद्धि का योग था। उसके सम्पर्क में आने से हमारे देश में नयी-नयी चेतनाएँ

और प्रेरणाएँ आयीं। हम लोगों के उन दिनों के जो साहित्यिक नेता, इस स्वतन्त्रता से पहले के भी साहित्यिक नेता, या वे लोग जो भाषा को बनाना और उसे शक्ति देना चाहते हैं, उन्होंने सोचा कि हम अँग्रेजी शब्दों से शब्द बनायें। यह प्रक्रिया आज तक चल रही है। होता यह है कि जीवन में जो प्रक्रिया होती है, वह नहीं अपनायी जाती अपितु ऊपर से शब्दों को चुनकर हम देखते और समझते हैं कि इससे हमारा अनुवाद का काम ठीक हो गया है। मगर मुझे यह लगता है कि यह पद्धति बहुत कारगर नहीं है। अभी और शब्दों की जरूरत है। जो शब्द हमने सीख लिये हैं उनमें से बहुत शब्द तो मैं अपने घर में प्रयोग करता हूँ, करते सुनता हूँ। जन्म से बोलता आ रहा हूँ और उन्हें पढ़ता आ रहा हूँ। लेकिन मेरी समझ में अब भी कुछ शब्द नहीं आते। जो नये-नये शब्द चल रहे हैं, उनका अभ्यास नहीं है। 'अभियन्ता' शब्द को ले लीजिए। एक बार जब मैं 'लैंग्वेज कमीशन' का मेम्बर था, मेरे एक मित्र ने मुझे एक पैम्फलेट दिया जिसमें अँग्रेजी में इंजीनियरिंग आदि के कुछ नियम बताये गये थे। मेरी तो एक भी समझ में नहीं आया। न उसका नियम समझ में आया, न उप-नियम समझ में आया। न विषय समझ में आया। यद्यपि मैं सोचता रहा कि आखिर क्या चीज है? उन्होंने कहा कि यह भाषा तो ठीक लग रही है। आखिर आप कहना क्या चाहते हैं? मैंने कहा कि आप भाषा को 'इन्करेज' तो नहीं कर रहे हैं? तो उन्होंने कहा कि हम 'इन्करेज' तो नहीं कर रहे हैं। किन्तु वह तो सरकारी प्रकाशन था इसलिए हम कुछ नहीं कह सकते। लेकिन हमने यह शब्द पढ़ा—'अधिशासी अभियन्ता'। उस समय मेरी समझ में नहीं आया। मैंने कहा कि यह तो बाद में फैसला होगा—पहले यह बताओ कि यह अधिशासी अभियन्ता होता क्या है? तो उन्होंने कहा—'एक्जीक्यूटिव इंजीनियर'। तब हमारी समझ में आया कि 'अधिशासी अभियन्ता' शब्द 'एक्जीक्यूटिव इंजीनियर' से बना है। संयोग से उसी दिन अधिशासी अभियन्ता, मध्य प्रदेश का एक पत्र मिला कि वे भाषा आयोग को किसी समारोह में बुलाना चाहते हैं। अब उनकी समझ में न आया कि कौन बुला रहा है? तो उन्होंने मुझसे पूछा—द्विवेदी! तुम्हें मालूम है, यह कौन होता है? मैंने कहा—यह 'एक्जीक्यूटिव इंजीनियर' होता है। उन्होंने कहा कि आज तक क्यों नहीं बताया? यह तो बहुत प्रचलित शब्द है। मैंने कहा कि आज ही सुबह सीखा है, जो काम आ गया। लेकिन आजकल यह शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। पहले जब मैं लखनऊ जाता तो सचिवालय कहता, जिसे कोई नहीं समझता था। रिक्शेवाला भी उसे नहीं समझता था। कुछ दिनों से सचिवालय शब्द इतना प्रचलित हो गया है कि हर कोई समझने लगा।

अँग्रेजी के ऐसे शब्द बहुत प्रचलित शब्द हैं जिनको ले लेने में मैं कोई आपत्ति नहीं समझता। यहाँ तक कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने अध्यापकों से मैं कहता था कि शब्द यदि चलता नहीं है तो अँग्रेजी का शब्द लो और क्रिया हिन्दी की

रखो। भाषा तो क्रिया, सर्वनाम और विभक्ति से ही पहचानी जाती है। हेडमास्टर साहब ने स्कूल में स्पीच दी। उसमें एक शब्द भी हिन्दी का नहीं आया, लेकिन भाषा हिन्दी है। इस हिन्दी में सर्वनाम नहीं बदलता, क्रियाएँ नहीं बदलतीं। यहाँ तक कि विभक्तियाँ भी नहीं बदलतीं।

भाषा में शब्दों की रचना हमारी आवश्यकता के लिए हुई है। लेकिन अगर यह विश्वास करें कि इन शब्दों की रचना द्वारा साहित्य का निर्माण होगा तो यह बड़ा भ्रम होगा। हमने देखा है कि अच्छे-अच्छे विद्वान् जो हिन्दी में अनुवाद करते हैं, कभी-कभी ऐसे शब्द उठाकर रख देते हैं जिन्हें पढ़कर समझ में नहीं आता कि कौन-सी भाषा है। भाषा की अपनी प्रकृति होती है। हर क्षेत्र में कुछ रचनात्मक प्रतिभाएँ होती हैं जो भाषा को मिलाती हैं। वे लोग अपने काम से भाषा की प्रकृति के अनुकूल जो शब्द बनाते हैं, वे गूढ़ शब्द ज्यादा चलने लायक होते हैं। वे गले के नीचे उतरते हैं। उसमें भी बहुत से ऐसे शब्द बना दिये हैं जो कभी चलने वाले नहीं होते। विश्वम्भर शब्द 'होल्डाल' के लिए बनाया गया है। होल्डाल माने विश्वम्भर। यह शब्द चलन के बाहर है। विश्वम्भर शब्द गूढ़ है, विशेष अर्थ में प्रचलित है। इसीलिए होल्डाल के लिए अनूदित कर 'विश्वम्भर' शब्द बना देने से यह शब्द नहीं चलेगा। भाषा की प्रकृति को जानने वाला रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न कभी इसे लिखेगा ही नहीं। ऐसे बहुत से शब्द बनाये हैं— जैसे 'कंट्रोल' के लिए वशीकरण। वशीकरण निश्चित शब्द है। उसका निश्चित अर्थ है और साधारण जनता भी जानती है कि वशीकरण 'कंट्रोल' नहीं है।

भाषा केवल बाह्य अभिव्यक्ति है। आप देखें कि वाक्य कितनी गहराई में है। उससे भाषा को रूप ग्रहण करना चाहिए। केवल कह देने मात्र से, सोचा और कह दिया तो यह बहुत निचले स्तर की भाषा होगी। तुलसीदासजी बोलते हैं तो भाषा उनकी नाभि से निकलती है, न कि मुँह से, जहाँ से कि विस्फोट होती है। यह भाषा अपने आप रूप ग्रहण करती हैं यदि तुम इतनी गहराई में नहीं हो तो तुम्हारी भाषा कमजोर हो जाएगी।

विद्यानिवासजी मिश्र ठीक कहते हैं कि हम अपनी भाषा को अनुवाद की भाषा नहीं बना सकते। इसका कारण यह है कि हमको हमारी भाषा में अनुवाद का मुहावरा प्राप्त नहीं है। अनुवाद एक कला है। अनुवाद ऐसा होना चाहिए कि पढ़ने वाले को लगे कि हम हिन्दी पढ़ रहे हैं न कि बार-बार यह पूछना पड़े कि अँग्रेजी में यह रहा होगा कि उसका यह अनुवाद किया गया। मुझे बहुत-सी पुस्तकों में भाषा के गूढ़ में जाना पड़ता है। मुझे सोचना पड़ता है कि अमुक शब्द के लिए कौन-सा अँग्रेजी शब्द रहा होगा।

अँग्रेजी भाषा का 'सिंटेक्स' हिन्दी भाषा के सिंटेक्स से भिन्न है। अनुवाद का मुहावरा भी विशेष प्रकार की कला है जो गहन अभ्यास से प्राप्त होती है। अन्यथा भाषा कई बार ऐसी हो जाती है जैसे अँग्रेजी का अनुवाद किया गया हो। उससे अँग्रेजी की गन्ध

अन्त तक नहीं छूटती। जब लोग बाँग्ला से अनुवाद करते हैं तब लगता है यह बाँग्ला का छौंक है या बाँग्ला की बू है। बहुत बार जो लोग एक शब्द सहन नहीं कर पाते तो उसका कारण उसमें भाषा के बाहरी रूप का होना है।

मैं निराशावादी नहीं हूँ। मुझे विश्वास है कि अच्छे-अच्छे अनुवादक निकलेंगे, अनुवाद के बिना काम कहीं नहीं चल सकता। आप खाली प्रतिज्ञा करके बैठ जाएँ कि अनुवाद नहीं करेंगे तो काम नहीं चलेगा। अनुवाद की जरूरत होगी, हिन्दी किसी समय में विश्व भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होगी तब तो आपको ऐसे अनुवादकों की जरूरत हागी जो हिन्दी की स्पीच को तुरन्त संसार की प्रमुख भाषाओं में अनुवाद करके दे दें। विश्व की प्रमुख भाषाओं को आजकल इस ढंग से विश्लेषित कर रखा गया है कि वे जानते हैं कि यह शब्द कहाँ से शुरू हुआ और उसमें कौन-सा भाव है। क्रिया पहले आएगी या बाद में आएगी, उसके भीतर जो क्लॉज है वह आगे लिया जाएगा या पीछे लिया जाएगा। भाषा की प्रकृति का अध्ययन वे बहुत अच्छी तरह करते हैं। आजकल 'सेमेंटिक्स' उसका एक अंग बन गया है। उसको बहुत अच्छी तरह से अध्ययन करके उसका बड़ी आसानी से अविलम्ब और अविकल रूप से अनेक भाषाओं में अनुवाद कर सकते हैं पर केवल अनुवाद के चक्कर में पड़ने के कारण शायद हमारी भाषा खड़ी ही नहीं हो पाएगी। इसीलिए कई बार इतनी निराशा हुई कि मुझे अब अनुवाद अच्छा नहीं लगता। हम विद्वानों से कहते हैं कि यह ग्रन्थ अनुवाद करने योग्य है। आप इसको सामने रख लीजिए। इसमें जो कहा है उसे अपने देश की परिस्थिति और अपने विद्यार्थियों एवं उनकी समस्याओं को दृष्टि में रखकर उनको समझाने की दृष्टि से अब अपनी भाषा में कहिए। हमने देखा कि ऐसा प्रयत्न अधिक अच्छा होता है, क्योंकि वह अँग्रेजी भाषा से बँधा हुआ नहीं होता। ज्यों ही अनुवादक को यह बोध होता है कि वह अँग्रेजी से अनुवाद कर रहा है तो वह कॉमा, फुलस्टॉप और सेमीकोलन का भी अनुवाद करना चाहता है। यह उसकी ईमानदारी अवश्य है। लेकिन अगर ऐसी ईमानदारी हमारे गले पड़ी, जो हमारी समझ में भी न आए तब वह बोझ बन जाती है।

भाषा को हमें स्वतन्त्र, स्वाधीन चिन्तन की भाषा बनाने की आवश्यकता है। दूसरी भाषाओं की जो अच्छी-अच्छी चीजें लिख ली गयी हैं और जो अच्छे ज्ञान की वस्तुएँ उपलब्ध हैं, जब तक उनका अध्ययन नहीं करते तब तक उनका विस्तार नहीं होगा। चित्र के विस्तार हुए बिना जो लिखेंगे, वह मुर्दा चीज होगी। लेकिन इन दोनों ही अवस्थाओं में से हमें मध्यम भाग लेना है। हमें इसका अध्ययन भी करना है। महान् ग्रन्थों को समझना है, हमारी भाषाओं के विचारकों के भावों और अनुभूतियों को आत्मसात् करना है और फिर अपने ढंग से अपनी भाषा को रूप देना है, यही हमारी प्रमुख आवश्यकता है।

यह कठिनाई केवल साहित्य और ज्ञान-विज्ञान की परिभाषा के लिए नहीं है,

हमारी इंजीनियरिंग और टेक्नोलॉजी जैसे विषयों के लिए भी है। साथ ही यह ध्यान में रखना है कि इनमें अनपढ़ लोग भी काम करते हैं। उनके लिए आपको वैसी ही भाषा गढ़नी होगी।

साथ ही यह मानकर चलना होगा कि हर अनुशासन में एक ही तरह की भाषा नहीं चलती। न्यायशास्त्र की जो भाषा होगी, वही गद्य काव्य की भाषा होगी, यह अनिवार्य नहीं है। दोनों अलग-अलग अनुशासन हैं, उनकी भाषा में कुछ अन्तर अवश्य होगा। साधारण मजदूर भी शब्द बनाते हैं। यदि उनका अध्ययन करें तो आप देखेंगे कि कई बार वह हम लोगों से अधिक अच्छी तरह बना लेते हैं। परन्तु वे हमसे जुड़े हुए नहीं हैं। क्योंकि हम अँग्रेजी की समृद्धि से अभिभूत हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास कमेटी से सम्बन्धित एक प्रसंग है। इसमें पदार्थ-विज्ञान तथा केमिस्ट्री के शब्दों को हिन्दी में अनूदित करने के लिए विज्ञानवेत्ताओं में बहस चल रही थी कि 'पॉजेटिव करेंट' और 'निगेटिव करेंट' के लिए क्या शब्द बनाये जाएँ। किसी ने धनात्मक, ऋणात्मक नाम सुझाये तो किसी ने सकारात्मक और नकारात्मक आदि। उसी समय उनमें से कोई एक विद्वान, शायद रामचन्द्र शुक्ल, के मन में आया कि मिस्त्रियों से पूछें कि क्या चीज है। पॉजेटिव करेंट, निगेटिव करेंट किसे कहते हैं? तो उन्होंने बताया कि यह ठंडी बिजली है, यह गरम बिजली। निगेटिव को ठंडी बताया और पॉजेटिव को गरम बताया। इस प्रकार सामान्य जन न जाने कब से अपना काम चला रहे हैं, लेकिन हम देखते हैं कि अब भी धनात्मक-ऋणात्मक शब्द चलते हैं। देखना चाहिए कि सामान्य जीवन में उनका चलन है या नहीं। यह आवश्यक नहीं कि हम उन्हें वैसे ही स्वीकार कर लें।

केवल कार्यालयों के लिए ही नहीं, वैज्ञानिक विषयों के लिए भी बड़े-बड़े क्लॉज के अनुवाद करने की जरूरत है। इस तरह बहुत-सी समस्याएँ हैं। जैसे-जैसे हम व्यावहारिक क्षेत्र में आते जाते हैं वैसे-वैसे हमको दिखाई देता है। भाषा ठीक हो और विद्यार्थी की समझ में आवे, अन्यथा अल्पशिक्षितों के लिए टेक्निकल शब्द और कठिनाई पैदा करेंगे।

अत: ऐसा साहित्य लिखना होगा जिसमें कि सहज भाषा में ऊँचा विज्ञान और ऊँची-से-ऊँची टेक्नोलॉजी को समझाया जा सके। उसमें अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। जो पाठ्य-पुस्तकें विद्यार्थी की समझ में नहीं आतीं उन्हें पढ़कर वह सिर धुनकर रह जाता है। भाषा में शब्द -पर-शब्द बैठाने से भाषा नहीं बनती। उसमें अपना 'फ्लो' होता है। अपनी कुछ जान होती है। उसकी प्राणधारा होती है, उस पर किसी प्रकार का आप दबाव डालेंगे तो भाषा कराह उठेगी। उसको ऐसे खिलवाड़ नहीं बनाया जा सकता। उसकी प्रकृति देखकर उसके साथ व्यवहार करना पड़ता है। उसकी प्राण-शक्ति है। उसको देखते हुए उसमें ऐसे रूपों को बनाना होगा जो ज्यादा-से-ज्यादा

लोगों की समझ में आ सकें। ज्यादा प्रवाहशील हों। शब्द बहुत-से हों, लेकिन प्रवाह न हों, ऐसी भाषा बनाना असंगत है। भाषा की अपनी जीवन्तता है, प्रवाह है, उसको हमें रखना होगा, तभी भाषा सही रूप में बनेगी। अच्छे विचारक, विज्ञानवेत्ता और जो ज्ञान के विविध क्षेत्रों में काम करते हैं, वे उन शब्दों पर स्वायत्त करके अपने-आप में उसी प्रकार पचाकर भाषा दें जिस प्रकार गाय दूध देती है। वह यह नहीं करती है कि जो घास खाये, उसको उगल पहले दे। वह खाद्य वस्तु को पचाती है, बाद में उसको मीठा बनाकर दूध के रूप में देती है। वही जीवन्त वस्तु होती है, और ग्राह्य वस्तु होती है। सबका पालन-पोषण करने योग्य वस्तु होती है। भाषा में इसी बात का ध्यान रखना होगा, लेकिन जब तक यह न हो, तब तक हाथ-पर-हाथ धरे बैठे नहीं रह सकते। हमें प्रयत्न करते रहना होगा। बहुत से शब्द हमें फिर से बनाने पड़ेंगे। जब तक वे व्यवहार में नहीं आते, तब तक हम नहीं कह सकते कि वे चलने योग्य हैं या नहीं। केवल शब्द बना देने से ही काम नहीं चलेगा। उनकी सार्थकता प्रयोग में है। हमने नयी पुस्तक छापी है। आप पढ़ायेंगे ही नहीं तो समझ में कैसे आयेगा। पढ़ाइए, तभी हमारी समझ में आएगा। अन्यथा आप शिकायत करेंगे। बहुत-से लोग तो बिना पढ़े और पढ़ाए ही शिकायत करते हैं तो मैं इस वृत्ति को रोकने के पक्ष में हूँ। आप पढ़ाइए, उसमें जो कठिनाइयाँ आपको मालूम पड़ें, आप हमें बताइए। हम सर्वज्ञ तो नहीं हैं, प्रायः हम यह मानकर चलते हैं कि इसे प्रतिभाशाली लोगों ने लिखा है, अतः ठीक होगी। अंग्रेजों ने ही नहीं अनेक जातियों ने अपने सहस्रों शब्द गढ़े हैं। उन्हें कोठों तथा विश्वविद्यालयों में रगड़ा है। एक-एक शब्द को घिसा है। वर्षों बहस हुई तब जाकर उन शब्दों ने एक शक्ति अर्जित की और एक भाषा साहित्य और देश से निश्चित अर्थ देने की क्षमता प्राप्त की। हिन्दी में ऐसे ही कार्य की अपेक्षा है।

(भाषा साहित्य और देश से साभार)

अफ्रीकी साहित्य और विद्वत्ता का भविष्य

न्गुगी वा थ्योंगो

अनुवाद - आनंद स्वरूप वर्मा

मैं सौभाग्यशाली था कि इस भाषण की तैयारी के दौरान मुझे एरिक एस्बी की पुस्तक अफ्रीकन यूनिवर्सिटीज ऐंड वेस्टर्न ट्रेडीशन हाथ लगी और सरसरी तौर पर इसे देखने के बाद मुझे अपनी पहचान का एहसास हुआ। इस पुस्तक ने मेरे खुद के जीवन की विडम्बनाओं को सामने ला दिया और मेरे अपने कई सरोकारों से परिचित कराया। यह पुस्तक 1964 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में गौडकिन भाषणमाला के अन्तर्गत एस्बी के दिए गए भाषणों का संकलन है। यही वह वर्ष था जब अंग्रेजी में लंदन यूनिवर्सिटी की ऑनर्स की डिग्री के साथ मैंने मैकरेरे कॉलेज से स्नातक किया था। इसी साल विलियम हाइनमन ने अंग्रेजी में लिखा मेरा उपन्यास वीप नॉट चाइल्ड प्रकाशित किया था जो मैकरेरे में किए गए मेरे पाँच वर्षों के परिश्रम का परिणाम था। मैं और मेरा उपन्यास उसी तरह के विश्वविद्यालयों के उत्पाद थे जिसकी चर्चा एरिक एस्बी ने की थी और जिनकी सामाजिक जिम्मेदारी ''ऐसे पुरुषों और महिलाओं को पैदा करनी थी जो सरकारी नौकरी के मानकों को समझते हों और जिनके अंदर स्वशासन के लिए जरूरी नेतृत्व क्षमता हो।'' संक्षेप में कहें तो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जो नई राजनीतिक व्यवस्था कायम होने वाली थी उसमें शासन करने के लिए कुछ अभिजात लोगों की जरूरत थी। 1950 के दशक में कुछ कॉलेजों की स्थापना हुई। इससे पहले 1925 से ही अनेक समितियों और सिफारिशों के बाद जो समिति बनी थी उसी के फलस्वरूप ऐस्कीथ कमेटी और 'इंटर-यूनीवर्सिटी कौंसिल फॉर हायर एजुकेशन' की स्थापना हुई। लेकिन अफ्रीका में आधुनिक विश्वविद्यालय का नक्शा इन आधिकारिक समितियों की मदद से 20वीं शताब्दी में नहीं शुरू हुआ। इसकी शुरुआत तो 19वीं शताब्दी में ही हो गई थी और इसके प्रणेता 1868 में जेम्स अफ्रीकन्स बीले हॉर्टन और 1872 में एडवर्ड ब्लाइडेन थे।

हॉर्टन और ब्लाइडेन दोनों अफ्रीकी थे और सिएरा लियोन के थे। जाहिर है कि वे अफ्रीका के लिए अच्छा से अच्छा ही चाहते रहे होंगे। तो भी इन दोनों के नजरिए में फर्क

था। एस्बी के अनुसार हॉर्टन अफ्रीका में एक ऐसी शुरुआत करना चाहते थे जो 'विशुद्ध पश्चिमी शिक्षा' पर आधारित हो और उनकी इस व्यवस्था में 'अफ्रीकी भाषाओं, इतिहास अथवा संस्कृति को उच्च शिक्षा में समाहित करने की कोई गुंजाइश नहीं थी।' उनके हिसाब से अफ्रीकी आधुनिकता का रास्ता ग्रीस क्लासिक्स और यूरोपीय भाषाओं और संस्कृति से होकर गुजरता था। दूसरी तरफ ब्लाइडेन चाहते थे कि अफ्रीका में उच्च शिक्षा उस 'निरंकुश यूरोपीकरण' से मुक्त हो जिसने 'नीग्रो मस्तिष्क को बौना कर दिया है और कुचल कर रख दिया है।'

1883 में ब्लाइडेन ने लिखा:

'हमारी सभी परंपराएँ और अनुभव एक विदेशी नस्ल से जुड़ गए हैं। हमारे पास अपनी कोई नहीं बल्कि अपने मालिकों की कविताएँ हैं। हमारे कानों में जो गीत सुनाई देते हैं और हमारे होंठों पर प्राय: जो तैरते रहते हैं वे वही गीत हैं जिन्हें हम उन लोगों के मुँह से सुनते हैं जो हमारी पीड़ा और कराह पर हमारे ऊपर चीखते रहते हैं। वे अपने उस इतिहास के गीत गाते हैं जो हमारी दुर्दशा का इतिहास है। वे अपनी विजय के गीत गाते हैं जिनमें हमारे अपमानों की दास्तान लिखी हुई है। यह हमारी बदकिस्मती है कि उनके पूर्वाग्रहों और उनके जज्बों को हम सीख लेते हैं और यह समझते हैं कि हमारे अंदर भी उन जैसी ही ताकत और ख्वाहिशें आ गई हैं।'

वह एक ऐसी शिक्षा पद्धति चाहते थे जो अफ्रीकियों के बारे में हर तरह के भ्रमों और मुगालतों को खारिज कर दे। अफ्रीकी विश्वविद्यालय के बारे में अपना दृष्टिकोण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि बेशक पाठ्यक्रम में ग्रीक और लातिन भाषा के क्लासिक्स को स्थान दिया जाए लेकिन साथ ही अफ्रीकी भाषाएँ शिक्षा का अविभाज्य अंग बनें। घाना (जो उन दिनों गोल्ड कोस्ट था) के जे.ई. कैसले हेफोर्ड ने तो ब्लाइडेन से एक कदम आगे बढ़कर 1911 में अपनी पुस्तक इथियोपिया अनबाउंड में अफ्रीकी विश्वविद्यालय के बारे में एक ऐसी कल्पना को भी प्रकट किया जहाँ शिक्षा का माध्यम अफ्रीकी भाषा हो और सम्बद्ध पाठ्य सामग्री की जरूरतों को पूरा करने के लिए कुछ विद्वानों की नियुक्ति की जाए जो अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अफ्रीकी भाषाओं में अनुवाद कर सकें।

अंतत: ऐस्कीथ कमेटी की सिफारिशों के बाद अफ्रीका में जब विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई— 1948 में इबादान विश्वविद्यालय, 1948 में ही यूनिवर्सिटी ऑफ गोल्ड कोस्ट और 1950 में मैकरेरे यूनिवर्सिटी, तो हॉर्टन के नजरिए की ही जीत हुई। बेशक उन्होंने जहाँ श्रेष्ठता की बुनियाद के लिए ग्रीक और लातिन की कल्पना की थी उसकी जगह इनका स्थान अंग्रेजी ने ले लिया। अपनी बात को सहज ढंग से कहने के लिए मैं इसे बलाइडेन-हेफर्ड मॉडल के विपरीत हॉर्टन-ऐस्कीथ मॉडल कहना चाहूँगा।

हॉर्टन-ऐस्कीथ मॉडल और ब्लाइडेन-हेफर्ड मॉडल के नजरिए में यह भिन्नता उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में श्रेष्ठता हासिल करने की जरूरत को लेकर महज असहमति नहीं थी

को उनकी मूल भाषाओं से अलग कर दिया गया है। इस मामले में औपनिवेशिक भारत का उदाहरण देखा जा सकता है।

भारत चूँकि आधुनिक ब्रिटेन के निर्माण के केंद्र में था, वह अंग्रेजों की सामाजिक प्रयोगशाला बन गया और इस प्रयोगशाला से निकले नतीजों का बाद में अन्य उपनिवेशों में निर्यात किया गया। 1834 से 1838 तक सुप्रीम काउंसिल ऑफ इंडिया के सदस्य के रूप में टॉमस बैबिंग्टन मैकाले के वक्तव्यों ने उपनिवेश की शिक्षा प्रणाली को सुधारने और इसकी दंड संहिता तैयार करने में मदद की और इसका एक विशेष महत्व है। आपको याद होगा कि भारतीय शिक्षा पर अपनी मशहूर टिप्पणी में उन्होंने अंग्रेजी भाषा पर अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए कहा था कि इससे 'व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग पैदा होगा जो अपने खून और रंग में तो भारतीय होगा लेकिन अपनी रुचियों, विचारों, नैतिक मूल्यों और मेधा में अंग्रेज होगा'। ध्यान देने की बात है कि यह निष्काम सांस्कृतिक इंजीनियरिंग के सौंदर्यबोधक आनंद के लिए नहीं था बल्कि व्यक्तियों के उस वर्ग के लिए था जो 'हमारे और हमारे द्वारा शासित लोगों के बीच व्याख्याकार का काम कर सके।' इसके ठीक 87 वर्ष बाद केन्या के तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर सर फिलिप मिशेल ने मैकाले के इन्हीं शब्दों को दुहराया। उन्होंने माऊ-माऊ छापामार सेना के विरुद्ध सशस्त्र अभियान को मजबूती देने के लिए एक नैतिक अभियान चलाने के रूप में अफ्रीकी शिक्षा प्रणाली में अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व की नीति तैयार की और उन्होंने देखा कि इस नई भाषा की शिक्षा से एक ऐसे 'सभ्य राज्य' का निर्माण हो सकेगा 'जिसमें सभी मूल्य और मानक वही होंगे जो ब्रिटेन के हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की, चाहे उसका मूल कुछ भी हो, दिलचस्पी होगी और वह इसका एक अंग होगा।' दोनों मामलों में यानी 19वीं शताब्दी के मैकाले के भारत में और 20वीं शताब्दी के मिशेल के केन्या में सन्दर्भ औपनिवेशिक था और लक्ष्य बहुत स्पष्ट थे।

जिस प्रकार सैनिक क्षेत्र में औपनिवेशिक शक्तियों ने एक देशज सेना का निर्माण किया था जिसे उन्होंने शेष जनता से अलग थलग कर दिया था और जो उन्हीं ताकतों का साथ दे रही थी जिन्होंने उन्हें गुलाम बनाया था, उसी प्रकार मस्तिष्क के क्षेत्र में भी किया गया— शासित लोगों के बीच से एक बौद्धिक सेना का निर्माण जो आम लोगों से अलग-थलग हो और शासकों की मदद करे। आप खुद के लिए न होकर दूसरे के लिए होने की अवस्था में पहुँच जाएँ और इस प्रकार अपने खुद के अस्तित्व के खिलाफ खड़े हो जाएँ।

इस प्रकार हॉर्टन-एस्किथ मॉडल पूरी तरह औपनिवेशिक परम्परा और सिद्धान्तों पर आधारित था और यही वह मॉडल था जिसे कोई फेरबदल किए बगैर आजादी के बाद विरासत में ले लिया गया। यह मैकालेवादी शिक्षा पद्धति का एक मॉडल था जिसका मकसद गोरे जजों, वकीलों, सरकारी वकीलों, कानून निर्माताओं, गवर्नरों, सैनिक नेताओं और शिक्षा के क्षेत्र में विभागाध्यक्षों की खाली जगहों को भरने के लिए तैयार किया गया

था। क्या गजब की चीज अफ्रीका को विरासत में मिली थी। इतिहास के भाग्य का यह एक दिलचस्प खेल था कि वे लोग जो औपनिवेशिक साँचे में ढले थे उनको ही यह जिम्मेदारी मिल गई थी कि सैनिक, शैक्षणिक और आर्थिक क्षेत्रों में नए राष्ट्र को वह स्वरूप दें। उन अभिजनों की हैसियत की तुलना करना विडम्बनापूर्ण और दिलचस्प है जिन्होंने अफ्रीका में एस्किथ कालेजों की स्थापना से पूर्व लंदन, पेरिस और वाशिंगटन में शिक्षा पाई थी। इन लोगों ने राष्ट्रवाद और अफ्रीका से बाहर अफ्रीकावाद (पैन अफ्रीकनिज्म) की नेग्रीच्यूड और अफ्रीकी व्यक्तित्व की अवधरणा के रूप में सांस्कृतिक पहचान के जरिए राजनीति की मशाल जलाई थी। वे अफ्रीकी भाषाएँ बोलते हों या नहीं पर उन्होंने इन भाषाओं को सम्मान दिया। जूलियस न्येरेरे ने किस्वाहिली भाषा में शेक्सपीयर का अनुवाद किया, क्वामे एन्क्रूमा ने ब्यूरो ऑफ अफ्रीकन लैंग्वेजेज की स्थापना की, बिरागो डोप और चेख डोप ने अफ्रीकी भाषाओं की केंद्रीय स्थिति पर जोर दिया और इन सबने अफ्रीका के आत्मउद्धार के लिए इसे जरूरी बताया। लेकिन एस्किथ कालेजों से निकले लोगों ने किसी धार्मिक भाव की तरह अंग्रेजी को गले लगाया और इसे आधुनिकीकरण और विश्व समुदाय में सम्मान की भाषा माना। अनेक तरीकों से उन्होंने दलीलें दीं और खुद को सहमत कराने का प्रयास किया कि अंग्रेजी अब एक अफ्रीकी भाषा हो गई है।

इसके नतीजे सचमुच विरोधाभास से भरे हैं। अफ्रीका को स्वतन्त्र और आधुनिक बनाने के विचारों से सम्बन्धित अनुसंधान के लिए नए राष्ट्रों को इस शिक्षा प्रणाली ने जो जिम्मेदारी सौंपी है और जिसके लिए ये नए राष्ट्र अपनी कुल राष्ट्रीय आय की अच्छी खासी रकम इस पर खर्च करते हैं उसके फलस्वरूप आधुनिक शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यन्त मेधावी लोग उभरकर आए हैं, लेकिन उन्होंने जो ज्ञान हासिल किया है उसका सारांश भी वे किसी अफ्रीकी भाषा में नहीं लिख सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कॉलेजों ने खासतौर पर अपने उत्कर्ष के दिनों में उत्कट विद्वानों को पैदा किया। अफ्रीकी विद्वान जिन्होंने पहली डिग्रियाँ हार्टन एस्किथ मॉडल के कालेजों से हासिल कीं, अफ्रीका और विदेश के प्रमुख विश्वविद्यालयों में पाए जाते हैं। लेकिन वे वस्तुत: अलगाव में पड़े बुद्धि जीवी हैं, घर से भी निर्वासित और बाहर से भी या एक ऐसी जगह की तलाश में निर्वासित जिसे वे सही अर्थ में अपना कह सकें। एक सामूहिक सामाजिक निकाय के सन्दर्भ में वे दूसरों के लिए होने की स्थिति में हैं और उनका अस्तित्व खुद उनके खिलाफ और उस धरती के खिलाफ है जिसने उन्हें जन्म दिया। अफ्रीकीभाषी समुदाय एक ऐसी बौद्धिकता के लिए पैसे देता रहा जो कृषि हो या स्वास्थ्य या व्यापार अथवा जनतन्त्र या वित्त किसी भी बारे में एक भी विचार वे उस भाषा में नहीं प्रस्तुत कर सकते जिसमें वे पैदा हुए। अफ्रीकी विद्वता का यह महान विरोधाभास खासतौर पर सबसे प्रखर रूप में अफ्रीकी साहित्य के निर्माण में देखा जा सकता है।

चूँकि नए कॉलेजों में शिक्षण के हर क्षेत्र में अंग्रेजी की मुख्य भूमिका थी इसलिए अंग्रेजी विभाग बेहद सम्मानित विभाग था और सच कहें तो यह शब्दों में बता पाना भी कठिन है कि अंग्रेजी अगर किसी की अच्छी हो तो उसे कितनी इज्जत मिलती थी। अंग्रेजी के छात्र अभिजनों में भी अभिजन थे और अंग्रेजी में फर्स्ट क्लास लाने का मतलब समान बौद्धिकता वालों के बीच पहला स्थान प्राप्त करना होता। अंग्रेजी साहित्य का इतिहास बकौल प्रोफेसर अबिओला स्पेंसर से स्पेंडर तक जाता था और पाठ्यक्रम में केंद्र में यह होता था। सभी नए कॉलेज अधिकांशत: लंदन विश्वविद्यालय से संबद्ध होते थे इसलिए इनमें वही इतिहास और वही लेखक पढ़ाए जाते थे। बात चाहे उगांडा में मैकरेरे विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग की हो या नाइजीरिया में इबादान विश्वविद्यालय की, हर जगह स्थिति एक ही थी। यही वजह है कि इन विश्वविद्यालयों के विकसित होने का ऐस्बी ने जो वर्णन किया है उसमें मैं खुद को बहुत साफ तौर पर देख पाता था। मैं निश्चय ही हॉर्टन एस्किथ मॉडल का एक उत्पाद था जैसा कि 1950 और 1960 के दशक के लगभग सभी प्रमुख लेखक थे। वे सभी अंग्रेजी विभाग की उपज थे और उनकी शुरुआती प्रेरणा का स्रोत उन मॉडलों से उपजा था जिनके वे या तो प्रशंसक थे या जिनसे उनकी असहमति थी। इसे क्लार्क-बेडेकेरेमो ने एक बार फिर दि एक्जांपुल ऑफ शेक्सपीयर में बताया था। शुरुआती वर्षों में अगर सरसरी तौर पर अफ्रीकी कथा साहित्य की कुछ पुस्तकों के नाम देखें तो यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है। चीनुवा एचेबे के दोनों उपन्यासों थिंग्स फॉल अपार्ट और नो लांगर ऐट ईज के शीर्षकों की प्रेरणा यीट्स के सेकंड कमिंग और टी.एस. इलियट के जर्नी ऑफ दि मागी से मिली है। मैंने खुद अपने पहले प्रकाशित उपन्यास वीप नॉट चाइल्ड शीर्षक की प्रेरणा वाल्ट व्हिटमैन से ली। मुझे पूरा विश्वास है कि ढेर सारी कविताओं और लम्बे चौड़े कथानकों में टॉमस हार्डी, डिकेंस, डी एच लॉरेंस, जोसेफ कोनरॉड, टी.एस. इलियट और एजरा पाउंड की झलक मिल सकती है। अपने लेख नेम्ड फॉर विक्टोरिया, क्वीन ऑफ इंग्लैंड में चीनुवा एचेबे ने बताया है कि लिखने की प्रेरणा उन्हें सबसे पहले तब मिली जब उनका साबका कुछ ऐसे जबर्दस्त उपन्यासों से पड़ा जो अफ्रीका के बारे में थे। इनमें जायस केरी का उपन्यास मिस्टर जॉनसन भी था। इन उपन्यासों को पढ़ने के बाद उन्होंने तय किया कि 'हमें जो कहानी लोगों को बतानी है उसे और कोई नहीं बता सकता भले ही वह कितना भी विद्वान क्यों न हो अथवा उसके इरादे कितने भी नेक क्यों न हों।' लेकिन यहाँ मैं इस बात से बहुत परेशान नहीं हूँ कि किस मॉडल ने हमारे ऊपर प्रभाव डाला बल्कि हमारी चिन्ता इस बात से है कि हमने उन मॉडलों पर किस भाषा में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। यह काफी विडम्बनापूर्ण है कि हॉर्टन एस्किथ मॉडल की सबसे बड़ी उपलब्धि जहाँ अंग्रेजी में अफ्रीकी साहित्य के सृजन की थी वहीं यह एक ऐसा साहित्य था जो प्राय: अफ्रीकी छवि के सकारात्मक स्वीकार के ब्लाइडेनबादी नजरिए से प्रेरित था:

'सभी अंग्रेजीभाषी देशों में (ब्लाइडेन ने 1983 में यह लिखा था), किसी भी प्रतिभाशाली नीग्रो बच्चे के दिमाग में अपनी प्रारम्भिक पुस्तकों— भूगोल, यात्रा वृत्तान्त, इतिहास, उपन्यास आदि में नीग्रो के वर्णन को पढ़कर विद्रोह धधक उठता है। हालाँकि नीग्रो के हास्यास्पद छवि चित्रण और गलत प्रस्तुतीकरण से उसके अन्दर एक सहज वितृष्णा तो पैदा होती है लेकिन साल दर साल उसे ये चीजें पढ़नी ही पड़ती हैं। स्कूल छोड़ने के बाद उसे यही बातें अखबारों में देखने को मिलती हैं और कुछ दिनों के बाद उसे लगता है कि उसकी नस्ल के बारे में जो कहा जा रहा है वह ठीक ही है। वह इसे स्वीकार करने लगता है— उसी बात को जिसे शुरू के दिनों में उसने हमेशा खारिज किया था। किसी चीज को बार बार दुहराने का ऐसा ही असर होता है... खुद अपने बारे में इन उलटी सीधी और झूठ पर आधारित बातों को स्वीकार करने के बाद वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि सम्मानित जीवन की ऊँचाई तक पहुँचने की वह तभी उम्मीद कर सकता है जब उन चीजों को स्वीकार कर ले जो बिलकुल उससे मेल नहीं खातीं और जो उसकी रुचियों के लिए पूरी तरह अजनबी हैं।' (न्गुगी की पुस्तक राइटर्स इन पॉलिटिक्स, 1981, 1997)।

नए कॉलेजों के प्रारम्भिक उत्पादों में से एक के बयान में इस तरह के शब्दों और भावनाओं की गूँज सुनाई देती है। चीनुआ एचेबे ने अपने प्रसिद्ध लेख 'दि नॉवेलिस्ट ऐज ए टीचर' में 1963 में लिखा कि 'अगर मैं ईश्वर होता तो नस्ली हीनता को सबसे बुरा और अस्वीकार्य मानता चाहे कारण जो भी हो।' उन्होंने फिर आगे लिखा कि शिक्षक के बतौर अपनी लेखक की भूमिका को उन्हें अगर परिभाषित करना होता तो वह इस बात का प्रयास करते कि उनका समाज 'खुद के अन्दर विश्वास करना सीखे और अपमान और आत्मकुंठा की वर्षों की हीन भावना से अपने को मुक्त करे।'

इस प्रकार इस साहित्य की दो अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियाँ थीं। यह प्राय: राष्ट्रवादी और नस्लगत गर्व की भावना से प्रेरित और संचालित थीं जो ब्लाइडेन मॉडल की अवधारणाओं में सहज रूप से शामिल था तो भी इसके मॉडल प्राय: कक्षा में पढ़ाए जाने वाले अंग्रेजी के लेखक होते थे। किसी यूरोपीय भाषा में लिखे होने के बावजूद अफ्रीका से बाहर रहने वाले आम आदमी के लिए यह अफ्रीका को काफी निकट से पहचानने वाला साहित्य होता था। जब वोले सोयिंका को साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार मिला तो उनकी इस उपलब्धि और कामयाबी का जश्न अफ्रीका के विभिन्न हिस्सों में मनाया गया। चीनुवा एचेबे, अमा अता आइडू, क्वाई अरमा जैसे लेखकों की ख्याति समूचे अफ्रीका में है। इनके उपन्यासों के प्रेरणास्रोत 19वीं शताब्दी के विक्टोरियन उपन्यास रहे हैं जिनमें एक सहज यथार्थवाद और सीधी सादी वर्णनात्मकता होती है। इनके वृत्तांत प्राय: परम्परागत होते हैं और कहीं कहीं इनमें दुहराव भी होता है तो भी अपने वर्णनों की दृष्टि से 20वीं शताब्दी के अफ्रीका में काफी लोकप्रिय रहे हैं। जिस मॉडल की तर्ज पर इनकी रचना की जाती है उनके मुकाबले ये

अपने स्वरूप और सार में एक भिन्नता लिए होते हैं और इनमें एक नयापन भी होता है।

इनमें किस तरह का नयापन होता है? ये मॉडल उसके नहीं हो सकते हैं जिनसे इन्होंने रोष में अथवा आह्लाद में प्रेरणा ली थी। और इससे हमारे सामने और विरोधाभास प्रकट होता है। इसकी वजह यह है कि नएपन की वजह से इनका जो अलग स्वरूप दिखाई देता है वह अफ्रीकी भाषा और उन भाषाओं में विद्यमान अत्यंत समृद्ध मौखिक साहित्य की महान विरासत का योगदान है। इन भाषाओं में प्रतीकों, मुहावरों, पहेलियों, वीरतापूर्ण कहानियों आदि का बहुत बड़ा भंडार है जहाँ से यूरोपीय भाषाओं में लिखा जाने वाला यह साहित्य अपनी रचनात्मकता को समृद्ध करता है। एचेबे ने थिंग्स फॉल अपार्ट में लिखा कि इबो लोगों के बीच मुहावरे खजूर से बनी शराब की तरह हैं जिनकी मदद से शब्दों को गटका जाता है।

ये भाषाएँ ऐसे जादुई झरने हैं जिनसे अंग्रेजी या फ्रेंच या पुर्तगाली भाषा में लिखा गया अफ्रीकी साहित्य निकलता है और इसे निरन्तर युवा बनाए रखता है। नकल और वास्तविक जीवन के चरित्रों की बोलचाल में यूरोपीय भाषाओं के इस्तेमाल की वजह से जो पीलापन पैदा होता है वह अफ्रीकी भाषाओं से प्राप्त रक्त और स्फूर्ति से और भी ज्यादा ताजगी से भर उठता है।

ये सारी बातें यानी अफ्रीका से बाहर तक इसकी पहुँच, इसकी नस्लगत वर्ग की भावना, मानवीय और जनतान्त्रिक मूल्यों के लिए इसकी ललक— ये सब वे बातें हैं जिन्हें मैं सबसे ज्यादा सकारात्मक मानता हूँ और जो मुझे उस अफ्रीकी साहित्य में दिखाई देती हैं जिसे यूरोफोन (यूरोपीय भाषाभाषी) साहित्य कहा जाता है। इसकी यह विशिष्टता निश्चय ही हार्टन मॉडल की सीधी सादी उपज है इसलिए इसमें जो कुछ भी सकारात्मक होगा वह हार्टन की इस उम्मीद को न्यायोचित ठहराएगा कि क्लासिक साहित्य और पश्चिमी सभ्यता की महान उपलब्धियाँ अफ्रीकी पाठकों के बीच श्रेष्ठता को जन्म देंगी।

लेकिन यूरोफोनिज्म की खुद की न तो कोई भाषा है और न इसका कोई सांस्कृतिक जगत है। यह जिस साहित्य को पैदा करता है - यूरोफोन लिटरेचर - उसे इन भाषाओं को बोलने वाले बाजार में इसको पहचान देते हैं लेकिन इसमें अफ्रीकी जीवन और भाषाओं से निकले बिम्बों का भण्डार है। इसलिए इसका एक नकारात्मक और लगभग परजीवी पक्ष भी है। किसी जोंक की तरह यह रक्त और शक्ति अफ्रीकी भाषाओं से चूसता है और उन लोगों को बदले में कुछ भी नहीं देता है जिन्होंने इन भाषाओं को जन्म दिया अथवा जिन्होंने उस मौखिक साहित्य को जिन्दा रखा जिससे यह खुलकर इतना कुछ ले लेता है जिसके जरिए यूरोपीय भाषा में विश्वव्यापी स्तर पर लिखे जा रहे बाजार में अपनी पहचान स्थापित कर सके।

यूरोफोन अफ्रीकी साहित्य में दो प्रवृत्तियाँ सहज रूप से इससे जुड़ी हुई हैं जो हार्टन-एस्किथ मॉडल के तहत विकसित सभी विद्वानों के लिए सच हैं। एक तो इसकी रचनात्मक प्रवृत्ति है जो विद्वता है वह उसे अफ्रीकी विरासत से दूर ले जाती है और अफ्रीकी साहित्य और जीवन के अनेक पहलुओं पर महान कृतियों की रचना करती है जिनमें से अधिकांश को सारी दुनिया के पुस्तकालयों में पाया जा सकता है।

इस विद्वता का एक परजीवी पहलू भी है जो बस इतना ही जानता है कि किस तरह कुछ लिया जाए— उसे यह कभी पता नहीं चला कि उन भाषाओं और जनसमुदायों को कैसे कुछ वापस किया जाय जिनके नाम पर इन्होंने कला, विज्ञान और टेक्नोलॉजी में विश्व समुदाय के बीच अपने पांडित्य का डंका बजाया है। अफ्रीका के बारे में ज्ञान, अफ्रीका के बारे में इस महाद्वीप के बेटों और बेटियों द्वारा किए गए व्यापक शोधों, अनुसंधानों और खोजों के नतीजे वस्तुत: यूरोपीय भाषा के गोदामों में डाल दिए गए हैं।

अब हम हॉर्टन-ऐस्किथ मॉडल के निहितार्थों को देख सकते हैं। किसी को सम्पत्ति और यहाँ तक कि सत्ता से वंचित किया जा सकता है, लेकिन सबसे बड़ी वंचना उन साधनों से उन्हें वंचित कर देना है और इस प्रकार उस दृष्टि और रणनीति के विकास को रोक देना है जिसकी मदद से वे इसके विरुद्ध लड़ सकते थे। बेशक, इसके लिए हम उपनिवेशवाद को दोषी ठहरा सकते हैं और मैंने अपनी कई पुस्तकों में दोष मढ़ने का यह काम किया भी है लेकिन इसे याद रखना चाहिए कि हमें उपनिवेशवाद को इस बात के लिए कठघरे में नहीं खड़ा करना चाहिए कि उसने वह काम नहीं किया जिसकी सचमुच उससे अपेक्षा नहीं थी। उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक मॉडल कभी भी इस बात के लिए नहीं अस्तित्व में आए थे कि वे उपनिवेशों का इस तरह विकास करेंगे जिसका लाभ उपनिवेशों में रहने वाले लोगों को मिले। मैं समझता हूँ कि इसीलिए अब अफ्रीकी विद्वानों और विश्वविद्यालयों ने हॉर्टन-ऐस्किथ मॉडल और इसकी विरासत के रूप में इससे उपजी भाषा नीति पर सवाल उठाना शुरू कर दिया है।

मैंने एक जगह कहा था कि यह बात अपने आप में कितनी अन्तर्विरोधपूर्ण लगती है कि आज के अफ्रीका में और दुनिया के अन्य स्थानों में अफ्रीकी यथार्थ के बारे में लिखने वाले अफ्रीकी विद्वान उस परिवेश की भाषा के बारे में एक शब्द भी नहीं जानते जिसके वे विशेषज्ञ माने जाते हैं। आप क्या समझते हैं कि अगर मैं सच-सच यह कह दूँ कि मुझे फ्रेंच भाषा का एक भी शब्द नहीं आता तो यहाँ कैंब्रिज में मुझे फ्रेंच साहित्य के प्रोफेसर की नौकरी मिल जाएगी? लेकिन अफ्रीका और अन्य देशों के स्कूलों में ऐसे विशेषज्ञ भरे हुए हैं जो जरूरी नहीं कि अफ्रीकी हों, जरूरी नहीं कि वे अफ्रीकी हितों के प्रति सहानुभूति रखते हों, जरूरी नहीं कि वे प्रगतिशील हों और जिन्हें किसी अफ्रीकी भाषा की विशेषज्ञता की बात तो दूर उस भाषा से अपना परिचय भी न प्रदर्शित करना पड़े। वे बड़े पदों पर बैठे

बल्कि यह भिन्नता इस बात पर भी थी कि यह श्रेष्ठता कैसे हासिल की जाए और अफ्रीकी भाषाओं के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाया जाए।

हॉर्टन-ऐस्कीथ मॉडल में अफ्रीकी भाषाओं का अवमूल्यन कर दिया गया था और किसी गोले की परिधि में उन्हें डाल दिया गया था जबकि ब्लाइडेन हेफर्ड मॉडल में उन्हें इस गोले के केंद्र में स्थान प्राप्त था। अफ्रीकी भाषाओं को परिधि पर रखा जाए अथवा केंद्र में - मतभेद का यह मुख्य मुद्दा था। आज भी अफ्रीकी विद्वत्ता और राजनीति को यह सवाल बेचैन करता रहता है कि इन दोनों में से कौन से मॉडल ने कामयाबी पाई और किसको स्थान मिलना चाहिए। संक्षेप में कहें तो आज, जबकि 21वीं शताब्दी में विश्व समुदाय के आर्थिक और राजनीतिक नक्शे पर अपेक्षाकृत ज्यादा समानतापूर्ण स्थान पाने के लिए अफ्रीका संघर्ष कर रहा हो, इस सवाल का जवाब अभी भी बहुत प्रासंगिक है कि क्या अफ्रीकी भाषाएँ केंद्र में हैं अथवा वे परिधि पर ही पड़ी हुई हैं।

अपनी अधिकांश पुस्तकों में और खास तौर पर डीकोलोनाइजिंग दि माइंड, पेनप्वाइंट्स, गनप्वाइंट्स ऐंड ड्रीम्स और राइटर्स इन पॉलिटिक्स में मैंने यह बताने का प्रयास किया है कि भाषा का सवाल अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि किसी समाज में सम्पत्ति, सत्ता और मूल्यों के संगठन के समूचे मर्यादाक्रम में भाषा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मैं अपनी बात को थोड़ा और आसान बनाकर कहूँगा। भाषा देश काल के सन्दर्भ में किसी समुदाय के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकासक्रम का उत्पाद है। प्रकृति और मनुष्य के रूप में एक दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित करने में लोगों ने संवाद की एक व्यवस्था को जन्म दिया जिसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति और संकेतों को इसने भाषा कहा। लेकिन भाषा किसी समुदाय की उत्पादक भी है क्योंकि आखिरकार भाषा ही मानव समुदाय की प्रकृति से और प्रकृति से बाहर तालमेल की सामर्थ्य देती है। सच्चाई यह है कि भाषा ही उनके बहुआयामी विकास को सम्भव बनाती है। इस तालमेल के तहत ही एक समुदाय दूसरे समुदाय के मुकाबले अपनी विशिष्टता को समझ पाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि एक जैसे प्राकृतिक परिवेश में एक जैसे नियमों के तहत एक जैसा काम करते हुए, जो यह निर्धारित करता है कि प्रकृति से क्या लिया गया है, कैसे लिया गया है और आपस में इसका बँटवारा कैसे हो, कोई समुदाय उसी ज्ञान को विकसित करता है जो एक पीढ़ी से होते हुए दूसरी पीढ़ी तक पहुँचा है और जो उनके भावी क्रियाकलापों और उनकी जीवन पद्धति का आधार बनता है। प्रत्येक समुदाय के जीने का अपना तरीका है। उसका तरीका है कि वह कब, कैसे और कहाँ प्रकृति के साथ, एक दूसरे के साथ, अन्य समुदायों के साथ, खुद के साथ और दुनिया के साथ तालमेल स्थापित करे। भाषा उस समुदाय विशेष के सांस्कृतिक जगत की वाहक है और उस जगत के अन्दर उस समुदाय विशेष की समूची मूल्य व्यवस्था है। मानव जाति के प्रत्येक समुदाय की अपनी विशिष्टताएँ हैं और इन विशिष्टताओं के साथ यह धारणा

जुड़ी हुई है कि सही और गलत क्या है, अच्छा और बुरा क्या है, सुन्दर और असुन्दर क्या है। संक्षेप में कहें तो उसके पास नीति और सौंदर्यबोध की समूची प्रणाली है जो भावनाओं, आवेगों और प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है और यही उनकी पहचान अथवा अस्मिता का आधार तैयार करती है, या उनके होने का उन्हें एहसास कराती है।

19वीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिक हेगेल ने साइंस ऑफ लॉजिक और फेनामेनोलॉजी ऑफ स्पिरिट में और अन्य पुस्तकों में भी प्राय: अस्तित्व और होने की अवधरणा की, खुद में होने और खुद के लिए होने के विभेद की अवधारणाओं की चर्चा की है जिस पर ज्यां पाल सात्र ने काफी कुछ अपनी पुस्तक बीइंग ऐंड नथिंगनेस में लिखा है और दूसरों के लिए होने की बात की है। हम खुद में होने की सोच सकते हैं क्योंकि जब कोई तत्व वस्तुगततौर पर खुद के लिए होने की उलट के समरूप होता है तभी उसे अपने होने का एहसास होता है। भाषा किसी समुदाय को खुद में होने की अवस्था से खुद के लिए होने की अवस्था तक की यात्रा में मदद करती है और यह आत्मचेतना ही किसी समुदाय को वह आत्मिक शक्ति देती है जो अपने होने की क्रिया को आगे बढ़ाता रहता है क्योंकि निरन्तर संस्कृति में, सत्ता सम्बन्धों में और समूचे परिवेश के साथ अपने संवाद में अपना नवीकरण करता रहता है। समुदाय की संस्कृति ही उसे खुद को इतिहास में कल्पित और पुनर्कल्पित करने में समर्थ बनाती है। इसीलिए किसी समुदाय के लिए संस्कृति वैसी ही है जैसे किसी पौधे के लिए फूल। एक फूल बहुत खूबसूरत, बहुत रंगीन और प्राय: बहुत नाजुक होता है। लेकिन यह फूल ही है जो प्राय: तरह तरह के पौधों की पहचान को आसानी से परिभाषित कर देता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह फूल ही है जो उन बीजों का वाहक है जिनके माध्यम से उस पौधे की जड़ों और तनों का पुनरुत्पादन सम्भव है। आप तने को काट दीजिए और यहाँ तक कि जड़ को भी समाप्त कर दीजिए लेकिन बीज को बचाकर रख लीजिए और देखेंगे कि वह पेड़ फिर तैयार हो गया। आप चाहें तो वह खुद को पुनर्कल्पित कर सकता है। भाषा जो संस्कृति की वाहक है, कल्पनाशीलता की चरम और अत्यन्त प्रारम्भिक साधन भी है। साम्राज्य निर्माताओं को हमेशा इसकी जानकारी रही और शासित लोग अपने भविष्य की कल्पना कैसे करें, इसे आकार देने के प्रयास में उन्होंने स्पष्ट तौर पर देखा कि शासित समुदाय के अभिजनों को उनकी भाषाओं से असम्बद्ध करने और साम्राज्यवादी सत्ता की भाषाओं को उनके मस्तिष्क में अक्षरश: प्रत्यारोपित करने का कितना महत्व है। जहाँ परम्परागत अभिजात वर्ग ने भाषा के इस प्रत्यारोपण का प्रतिरोध किया क्योंकि वे अपनी भाषाओं और संस्कृतियों से बेहद गहराई के साथ जुड़े थे, साम्राज्य निर्माताओं ने नए स्कूलों और कालेजों के ऑपरेशन थियेटरों में बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक शल्य चिकित्सा के जरिए एक नए अभिजात वर्ग का निर्माण कर दिया। इसके ढेर सारे उदाहरण मौजूद हैं और हमें बागानों की दासता जैसे विशेष मामलों को भी देखने की जरूरत नहीं है जहाँ समूचे समुदाय

हैं और किसी अफ्रीकी भाषा की जरूरत के बिना आए दिन डॉक्टरेट की उपाधि से लैस लोगों को पैदा कर रहे हैं। विदेशों में जो संस्थाएँ हैं उन्हें दोषी ठहराना कठिन है क्योंकि वे तो वही कर रही हैं जो अफ्रीकी विश्वविद्यालयों में हो रहा है। इसका नतीजा यह है कि खुद अफ्रीका में शैक्षणिक क्षेत्र में अफ्रीकी भाषाएँ हाशिए पर पहुँचती चली जा रही हैं। वे खुद अपने देश के मैदान को नियंत्रित नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि वे यूरोप की जुबान से संचालित होते हैं।

लेकिन यही बात विश्व स्तर पर भी अफ्रीकी भाषाओं के सन्दर्भ में सही है। 20वीं शताब्दी के विश्व समुदाय की संस्कृति और विचार पर व्यापक तौर पर मुट्ठी भर यूरोपीय भाषाओं का प्रभुत्व है। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र और इसकी एजेंसियाँ अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में यूरोपीय भाषाओं की केंद्रीयता को ग्रहण कर चुकी हैं। इस प्रकार अफ्रीकी भाषाएँ अपने अपने देशों में और विदेशों में बौद्धिक और राजनीतिक तौर पर अदृश्य हो गई हैं। उन्हें एक तरह की बौद्धिक और राजनीतिक मौत के लिए मजबूर कर दिया गया है।

इस सन्दर्भ में भाषाओं की मौत के मुद्दे पर हौनानी के-ट्रास्क के शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं। अपनी पुस्तक 'फ्रॉम ए नेटिव डॉटर' में उन्होंने दलील दी है कि देशज भाषाओं के स्थान पर औपनिवेशिक भाषाओं के आगमन ने मृत भाषाओं को जन्म दिया है। लेकिन जिसे मृत कहा जा रहा है वे भाषाएँ नहीं बल्कि लोग हैं जिन्होंने अपनी भाषाएँ खो दीं और जो एक के बाद एक आने वाली पीढ़ियों तक अपनी मातृभाषा में बातें पहुँचाते रहे हैं। हर ओर ऐसा लगता था जैसे यूरोपीय भाषाएँ भगवद्गीता के इन शब्दों को चीखते चिल्लाते टूट पड़ी हों :—

मैं मृत्यु हूँ
विश्व की विनाशक।

शारीरिक विलोप के अर्थ में जब हम मृत्यु को देखते हैं तो बहुत संकीर्ण हो जाते हैं। मृत्यु अनेक रूपों में आती है और सांस्कृतिक मृत्यु भी उतनी ही विनाशकारी होती है जितनी शारीरिक मृत्यु। इस सांस्कृतिक मृत्यु की सम्भावना को हम अफ्रीका में पहले से ही देख रहे हैं। पिछले चार सौ वर्षों में हमने देखा है कि पश्चिमी देशों में अफ्रीकी मूल के लोगों ने अपने नामों को पूरी तरह बदल दिया है और अब जोन्स, जेम्स ओर जेन्स के रूप में ही उनका अस्तित्व बचा हुआ है। आज खेलकूद में, शिक्षा के क्षेत्र में, विज्ञान और कला के क्षेत्र में जो भी उपलब्धियाँ हासिल होती हैं, यूरोपीय नाम प्रणाली और सांस्कृतिक व्यक्तित्व की इस पद्धति को ही मजबूत करने के लिए होती हैं। इन नाम प्रणालियों के मूल में निस्संदेह भाषा है। अपनी भाषाओं के गुम हो जाने से हम समूची नाम प्रणाली को गुम कर देंगे। और ऐसी हालत में जो भी ऐतिहासिक हस्तक्षेप होगा भले ही वह कितना भी क्रान्तिकारी क्यों न हो, एक यूरोपीय नाम प्रणाली की सीमा के अन्दर होगा और अच्छे या बुरे के लिए इसकी

क्षमता को तीव्र करेगा। इस प्रकार अपने अपने क्षेत्र में वे जो कुछ भी करेंगे या करेंगी, उनके कार्यों से गोरे यूरोप के सांस्कृतिक व्यक्तित्व को ही प्रतिष्ठा मिलेगी।

मेरे लिए भाषा का सवाल पूरी तरह अपने खुद के अफ्रीकी होने के अस्तित्व के सवाल से जुड़ा है अथवा आप कह सकते हैं कि किसी भी समुदाय से वंचित होने के सवाल से जुड़ा है। इसी वजह से मैं यूरोफोनिज्म को अफ्रीका के विकास के लिए अत्यन्त खतरनाक बौद्धिक प्रणाली मानता हूँ। इसके पीछे जो दलीलें दी जाती हैं उनका उद्देश्य विश्व के सांस्कृतिक नक्शे से अफ्रीकी व्यक्तित्व का पूरी तरह सफाया कर देना है। हम महज यूरोपीय भाषा प्रणाली की अनेक शाखाओं में से एक शाखा बन कर रह जाते हैं और फिर हमारे सामने एकमात्र संघर्ष यह बचता है कि किसी यूरोपीय समुदाय की सांस्कृतिक शाखाओं के बीच बराबरी की मान्यता वाली लड़ाई लड़ें।

शायद यही वह समय है जब अफ्रीकी विद्वानों को ब्लाइडेन नजरिए पर दूसरे ढंग से गम्भीरता के साथ सोचना होगा। ब्लाइडेन-हेफोर्ड मॉडल उन अवधारणाओं को अस्वीकार करता है जो विश्व के साथ अफ्रीका के सम्बन्धों के मूल में निहित है। उन धरणाओं को अस्वीकार करता है जो ज्ञान, आधुनिकता, आधुनिकता का भाव, सभ्यता, प्रगति, विकास आदि को यूरोपीय जुबान की उपलब्धि मानता है। अफ्रीका में और दुनिया में सैकड़ों भाषाएँ हैं और इनमें से हर भाषा के पास स्मृतियों, विचारों और अनुभवों का ऐसा अद्‌भुत भण्डार है जो मानव समुदाय के लिए बेहद उपयोगी है। यह सही है कि सूचना प्रौद्योगिकी में आज जो क्रान्तियाँ हो रही हैं उनसे सारी दुनिया मैक्लुहान के शब्दों में एक ग्लोबल विलेज बन गई है। लेकिन इसी ग्लोबल विलेज ने मानव समुदाय के विस्तार की अपार सम्भावनाएँ भी खोल दी हैं। शैक्षिक और अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं को सबसे पहले आगे आना चाहिए और विश्व की विविध भाषाओं में यथार्थ और ज्ञान के अस्तित्व के बारे में विश्व समुदाय को संवेदनशील बनाना चाहिए। बेशक इसमें कुछ ऐसी नीतियों को कार्यान्वित करने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जो भाषाओं की बहुलता और विविधता को पूरी तरह महसूस करे लेकिन ज्ञान की विभिन्न शाखाओं को सचेत ढंग से इस बात का प्रयास करना चाहिए कि वे यूरोप के अलावा अन्य स्थानों में भी विभिन्न भाषाओं में ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करें और इससे लाभ उठाने की कोशिश करें और इसी प्रक्रिया में विभिन्न भाषाओं के बीच संवाद कायम करने में मदद करें। भाषाओं के बीच संवाद निश्चय ही उस भाषा को कुछ प्रदान करने का एक तरीका है जिससे हम जीवन ग्रहण करते हैं। उस दिशा में प्रयास भी किए जा रहे हैं। 1966 में स्पेन के बार्सिलोना में मैंने एक सम्मेलन में भाग लिया जिसे आंशिक तौर पर अंतरराष्ट्रीय संस्थान 'पेन' ने आयोजित किया था और जिसमें एक ऐसे मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा की गई जो छोटी और बड़ी भाषाओं के बीच समानता और संवाद की जरूरत को स्वीकार करती थी।

लेकिन अफ्रीका के लिए भाषाओं का सवाल अब इतने ही तक सीमित नहीं रह गया है कि दुनिया को भाषाओं की बहुलता के प्रति संवेदनशील बनाया जाए। यह मामला अब पूरी तरह हमारे अस्तित्व से जुड़ गया है। और यही वजह है कि मैंने हमेशा इसे अफ्रीकी विद्वानों और लेखकों और विश्वविद्यालयों के सामने मुख्य चुनौती के रूप में स्वीकार किया है— एक ऐसी चुनौती जो हमें पथ प्रदर्शक की भूमिका के लिए मजबूर करे। यही वह चेतना थी जिसने मुझे अपने रचनात्मक कार्यों के लिए गिकुयू भाषा की ओर मोड़ दिया और अब मैं वापस नहीं आ सकता। मैं न्यूयार्क विश्वविद्यालय में काम करता हूँ और मैंने अभी तुरन्त गिकुयू भाषा में लिखे जा रहे 1,142 पृष्ठों के अपने एक उपन्यास में चौथी बार संशोधन का काम समाप्त किया है। इस उपन्यास का मोटे तौर पर शीर्षक गिकुयू में 'मुरोगी वा कागूगो' होगा जिसे अंग्रेजी में 'दि विजार्ड ऑफ दि क्रो' नाम दिया जाएगा। मैंने न्यूयार्क युनीवर्सिटी की मदद से गिकुयू भाषा में प्रकाशित होने वाली एक पत्रिका की भी स्थापना की है जिसमें विकास के हर पहलू पर मैं शोध पत्र प्रकाशित करूँगा और यह उम्मीद करूँगा कि यह पत्रिका अफ्रीकी भाषाओं में और भी पत्रिकाएँ प्रकाशित होने के लिए प्रेरणा का काम करेगी। इसके अलावा मैं इस बात की भी प्रबल सम्भावना देख रहा हूँ कि इस तरह की पत्रिकाओं के जरिए अनुवादों के माध्यम से परस्पर आदान प्रदान विकसित होगा और अन्य अफ्रीकी भाषाओं के बीच संवाद की स्थिति बनेगी। नई दशाब्दी की शुरुआत में जनवरी में इरीट्रिया के अस्मारा शहर में साहित्य और अफ्रीकी भाषाओं पर एक सम्मेलन होने जा रहा है। इस सम्मेलन में अफ्रीका के विभिन्न देशों से वे लेखक और विद्वान भाग लेंगे जो अफ्रीकी भाषाओं में लिखते हैं और जो अफ्रीकी भाषाओं, ज्ञान और विद्वता से जुड़े सवालों से जूझ रहे हैं और जो यह मानते हैं कि नई दशाब्दी में अफ्रीकी भाषाओं को प्रकट रूप से दिखाने में उनकी भूमिका होनी चाहिए। वे यह भी मानते हैं कि अफ्रीकी भाषाओं के खिलाफ जो धरणा बनाई गई है उनसे इन्हें मुक्ति मिलनी चाहिए।

मैंने इस लेख के प्रारम्भ में एरिक एस्बे के एक भाषण को उद्धृत किया था जो उन्होंने हॉर्वर्ड में दिया था। 1964 में प्रकाशित उनकी पुस्तक की शुरुआत में ही दो उद्धरण हैं। इनमें से एक 1934 में भारत के गवर्नर जनरल को लिखे पत्र से लिया गया है जिसमें उन्होंने एलान किया है कि भारत पर वे जिस तरह की शिक्षा व्यवस्था थोपना चाहते हैं उसमें विज्ञान, कला, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में वही चीजें पढ़ाई जानी चाहिए जो यूरोप में पढ़ाई जाती हैं। संक्षेप में कहें तो यूरोपीय ज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए। यह एक तरह का हॉटर्न मॉडल है। दूसरा उद्धरण घाना विश्वविद्यालय के 1959 के चार्टर से लिया गया है। उस समय तक घाना स्वतन्त्र हो गया था और इस चार्टर में यह माना गया था कि यह विश्वविद्यालय दुनिया के अग्रिम विश्वविद्यालयों में से एक होगा। अफ्रीकी शिक्षण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण होने के नाते यह अफ्रीकी विचार, अफ्रीकी विद्वत्ता और अफ्रीकी

विकास के क्षेत्र में नेतृत्व देगा। उस उत्तम विचार को आज भी अनेक अफ्रीकी संस्थाएँ और अफ्रीकी विद्वान मानते हैं। लेकिन अफ्रीकी भाषाओं का सवाल विचार, विद्वत्ता और विकास के मामले में उस नेतृत्व के लिए बुनियादी शर्त है और मैं उम्मीद करता हूँ कि सभी अफ्रीकी विद्वान और लेखक इस पर ध्यान देंगे। हमें फिर उस जादुई झरने की ओर वापस जाना चाहिए और वह सब हासिल करना चाहिए जो इस महाद्वीप में सामाजिक परिवर्तन के वास्तविक कारकों को सत्ता और ज्ञान प्रदान करते हैं— सामान्य पुरुषों और महिलाओं को जो सम्भवत: अपनी ही भाषा में बातचीत करते-करती हैं। जब अफ्रीकी लेखक अपने अस्तित्व के होने के एकमात्र तरीके के रूप में यूरोफोनिज्म को अस्वीकार कर देंगे, वे सार और स्वरूप दोनों में अपने साहित्य में वास्तविक क्रान्ति ला सकेंगे। वैसी हालत में उस जादुई झरने से हमेशा कुछ ताकत और प्रेरणा लेने की बजाए हम अन्य किसी भी स्रोत से कुछ भी ले सकते हैं और उस झरने में योगदान कर सकते हैं। हम अपनी दुनिया से असम्बद्ध हुए बिना समूचे विश्व से जुड़ सकते हैं। और तब गुयाना के मार्टिन कार्टर के साथ अफ्रीका कह सकेगा:

मैं आता हूँ कल के निग्गर यार्ड से
उत्पीड़क की नफरत को फाँदते हुए
और अपनी खुद की पीड़ा को भी।
मैं आता हूँ दुनिया में अपनी आत्मा पर खरोंचे लिए
शरीर पर घाव और हाथों में क्रोध लिए
मैं पलटता हूँ पन्ने लोगों के इतिहास के और जनता की जिंदगी के।
मैं जाँचता हूँ चिनगारियों की बरसात और सपनों की संपदा।
मैं खुश हूँ वैभव से और दुखी हूँ दुखों से।
समृद्ध हूँ समृद्धियों से और निर्धन हूँ खोए लोगों से।
गुजरे कल के निग्गर यार्ड से मैं आता हूँ अपने बोझ के साथ
आने वाले कल की ओर मैं मुड़ता हूँ ताकत के साथ।

मैं आज पहले के मुकाबले कहीं ज्यादा शिद्दत के साथ महसूस करता हूँ कि अफ्रीका को अपनी भाषाओं और अपने लोगों का उपयोग एक ताकत के रूप में करना चाहिए जिसकी मदद से वह भविष्य में छलाँग लगा सकता है। 21वीं सदी में प्रवेश के समय अफ्रीकी विद्वानों और लेखकों को रास्ता दिखाना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रंथ:

चीनुवा एचेबे, थिंग्स फॉल एपार्ट, लंदन, हाइनमन, 1958
चीनुवा एचेबे, नो लांगर ऐट ईज, लंदन हाइमन, 1960
चीनुवा एचेबे, 'दि नॉवेलिस्ट ऐज टीचर', कॉमनवेल्थ लिटरेचर: यूनिटी ऐंड डाइवर्सिटी इन

ए कॉमन कल्चर, सं. जॉन प्रेस, लेंदन, हाइनमन, 1965, 201-051.
एरिक ऐस्बी, अफ्रीकन यूनिवर्सिटीज ऐंड वेस्टर्न ट्रेडीशन, कैंब्रिज, हॉर्वर्ड, 1964.
एडवर्ड विल्मोट ब्लाइडेन, क्रिश्चिएनिटी, इस्लाम ऐंड दि नीग्रो रेस, 1887 चेसापीके, न्यूयार्क
मार्टिन कार्टर, पोयम्स ऑफ सक्सेशन, लंदन, न्यू बीकन, 1977.
जायस कैरी, मिस्टर जॉनसन, न्यूयार्क, हार्पर 1951.
जे.ई. कैस्ले हेफर्ड, इथियोपिया अनबाउंड, लंदन, कास, 1979.
जी.डब्ल्यू.एफ. हेगेल, साइंस ऑफ लॉजिक, लंदन, एलेन ऐंड अनविन, 1969.
जी.डब्ल्यू.एफ. हेगेल, दि फिनामेनोलॉजी ऑफ स्पिरिट, लंदन, ऑक्सफोर्ड, 1977.
हौनानी के-ट्रॉस्क, फ्रॉम ए नेटिव डॉटर, होनोलुलू, यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई, 1999.
न्गुगी वा थ्योंगो, वीप नाट चाइल्ड, लंदन हाइनमन, 1964.
न्गुगी वा थ्योंगो, राइटर्स इन पॉलिटिक्स, लंदन, हाइनमन, 1981.
न्गुगी वा थ्योंगो, डीकोलोनाइजिंग दि माइंड, लंदन, हाइनमन, 1986.
न्गुगी वा थ्योंगो, पेनप्वाइंट्स, गनप्वाइंट्स ऐंड ड्रीम्स, ऑसपफोर्ड, क्लैरेंडन, 1986.
ज्यां पॉल सात्र, बीइंग ऐंड नथिंगनेस, न्यूयार्क, सिटाडेल, 1966
(समकालीन तीसरी दुनिया, दिसंबर , 2013 से साभार)

अन्तरराष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी की क्षमता

पं. विद्यानिवास मिश्र

हिन्दी में एक अन्तरराष्ट्रीय भाषा होने की पूर्ण क्षमता है। इस क्षमता की पहचान अगर नहीं की जाएगी तो हिन्दी तकनीकी प्रगति की दौड़ में काफी पीछे रह जाएगी। अपने देश में लोग हिन्दी के बारे में कितने ही उदासीन हों, किन्तु जो विद्वान भाषा के प्रवाह की गति को पहचानते हैं और जो भाषाविज्ञान के सामाजिक पक्ष के पंडित हैं, वे अच्छी तरह समझने लगे हैं कि बीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते विश्व में कुल दस भाषाएँ अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व की रह जाएँगी, जिनमें आपसी आदान-प्रदान सहज और स्वयंचालित बनाने के लिए यान्त्रिकी सुविधाएँ सुलभ हो सकेंगी, उनमें हिन्दी का प्रमुख स्थान होगा। इस निष्कर्ष पर जो पहुँचे हैं, वे सपनों के पीछे दौड़ने वाले प्रेमी नहीं हैं, वे वस्तुपरक दृष्टि से भाषा की क्षमता पहचानने वाले भाषाशास्त्री हैं।

हिन्दी भाषा भाषी समुदाय विशाल है, किन्तु उसे अपनी विशालता का ही अनुमान नहीं होता। हनुमान की तरह से स्मरण कराना पड़ता है कि तुम्हारे भीतर असीम शक्ति है। हिन्दी के अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने की जिन आधारभूत परिस्थितियों का परीक्षण किया गया है, उनके बारे में संक्षेप में अपने ही लोगों को बतलाना आवश्यक हो गया है। हिन्दी भाषी जन की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह स्वाधीन होने के बाद भी धीरे-धीरे आत्मविश्वास खो बैठा है। उसे अपनी संस्कृति और अपनी भाषा में कुछ संकोच होने लगा है। वह सोचने लगा है कि कहीं हिन्दी क्षेत्रीय तो नहीं है, किसी की रग तो नहीं दुखा रही है, किसी का अधिकार तो नहीं छीन रही है, या फिर कहीं प्रभुओं की भाषा बनने की प्रतिस्पर्धा तो नहीं कर रही है।

यह भूल गया है कि हिन्दी और स्वाधीनता दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं। हिन्दी मुक्ति के लिए संघर्ष की भाषा रही है- और मुक्ति केवल अपने देश के लिए नहीं, उन समस्त देशों के लिए है जो उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और प्रभाववाद में जकड़े जा रहे या जकड़े हुए हैं। यह स्मरणीय है कि अपने देश में अपनी भाषा रहनी चाहिए- यह आवाज उठाने की प्रेरणा सबसे पहले जिसके मन में उठी, वे हिन्दीभाषी क्षेत्र के नहीं थे।

यह बार-बार दुहराया गया सत्य है कि स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्तल, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्रद्धाराम फिल्लौरी, महात्मा गांधी- इनमें से किसी की भी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, पर इन्हीं लोगों ने इस आवश्यकता का अनुभव किया कि इस विशाल देश के जन समुदाय के बीच एक संवाद स्थापित करने की आवश्यकता है और यह संवाद ऐसी भाषा से ही स्थापित हो सकता है जो सन्तों, फकीरों, यात्रियों, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जाने वाले व्यापारियों, दूर-दूर तक मुहिम पर जानेवाले सिपाहियों के आपसी व्यवहार की भाषा सदियों से रही हो। वे यह पहचानते थे कि यह भाषा किसी-न-किसी रूप में हिन्दी थी। यह संगीत और कला पर भी छायी रही। उसके शब्दों में बँधे भक्तिपद आज भी देश-विदेश, सर्वत्र लोगों को शान्ति प्रदान कर रहे हैं।

स्वाधीनता के पहले दौर में अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का काफी असर था, पर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जो स्वाधीनता की लहर उठी, उसमें यह अनुभव किया गया है कि जब तक यह जन-संघर्ष नहीं होगा तब तक संघर्ष की बात केवल वाग्जाल बनकर रह जाएगी। चम्पारण के आन्दोलन के बाद पहली बार दूर अफ्रीका के वर्णभेद के खिलाफ सत्याग्रह की लड़ाई की दीक्षा लेकर गांधीजी जब साधारण जन से जुड़े तब उन्होंने समझा कि अँग्रेजी से काम नहीं चलेगा, देश की स्वाधीनता के लिए जो आवाज लगाई जाएगी, वह देश की भाषा में होगी। यह आवाज हर जलसे में इस रूप में लगाई जाती थी-

सबहि बोलो एक आवाज, अपने देश में अपना राज।

यह आवाज स्वदेशी का मन्त्र बन गयी और चरखे के साथ-साथ सारे देश में प्रचारित हो गयी। भारत के अपने स्वाधीनता-संघर्ष के साथ-साथ अफ्रीका, फीजी तथा मॉरीशस में दासता, वर्णभेद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध सिर उठाया। उसके सिर में सिर्फ एक चौपाई का टुकड़ा गूँज रहा था- 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'। उन्होंने ही हिन्दी को भाषा बनाया और राजा के अधिकार को चुनौती दी। इस प्रकार हिन्दी की पूजा, आधुनिक विश्व की जो सबसे महत्तवपूर्ण चेतना थी- उपनिवेशवाद से मुक्ति और सामान्य जन की गरिमा की प्रतिष्ठा-उस चेतना की प्रमुख वाहिका बनी। इसका पहले का इतिहास भी विश्वबन्धुता और सम्यक् जीवन की मूल्यवत्ता को पहचानने का इतिहास रहा। भक्ति आन्दोलन में हिन्दी की भूमिका एक संयोजक की भूमिका थी। उसने पूरे देश के भक्ति आन्दोलन को एक-दूसरे से संयोजित करने का व्रत लिया था। हिन्दी के संयोजक होने के कारण ही समस्त भारत के भक्ति आन्दोलन का स्वर एक था। उसमें जाति-पाँति, धन-धर्म-कुल की बड़ाई बौनी हो गई थी, भक्ति इस सबको फूँक करके असीम आकाश को प्रकाशित करनेवाली लौ बनी। इस प्रकार से इस हिन्दी ने जिस

शक्ति की पहचान करायी उस शक्ति की विशिष्टता यही थी कि वह साधारण व्यक्ति की, विपन्न व्यक्ति की प्रसुप्त चेतना में विशालता के बीज बो रही थी। पूरा भक्ति आन्दोलन जन-साधारण की शक्ति की खोज है। उस आन्दोलन ने दिल्ली की सत्ता को, सामन्तों की सत्ता को एक बड़ी सत्ता के आगे नगण्य बना दिया। उस बड़ी सत्ता का या तो कोई रूप नहीं था यह उसका रूप एक गँवार चरवाहा था, या उसका रूप एक निर्वासित, एक जागरूक धनुर्धर का था। स्वाधीनता आन्दोलन की यही जमीन थी, जो एक व्यापक देश और व्यापक जीवन की आकांक्षा से पुलकित थी। यह जमीन ऊँचाइयों को महत्त्व नहीं देती थी, नीचे की ओर बहनेवाली उस तेज और गहरी धारा को महत्त्व देती थी, जो अपने साथ असंख्य छोटी-छोटी धाराओं को लेती हुई निरन्तर चलती रहती थी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस आध्यात्मिक विशालता को एक नया मानवीय आयाम दिया गया, जिसमें छोटे स्वार्थों की आहुति एक बड़े अर्थ के लिए देने की बात शुरू हुई। यह उल्लेखनीय है कि बिना किसी बाहरी प्रेरणा के एशिया की गरिमा की आवाज सबसे पहले सन् 1901 में ही स्व. श्री राधाकृष्ण मित्र ने अपनी 'एशिया' कविता में की। प्रवासी भारतीयों के दुख-दर्द की बात हिन्दी में ही उठायी गयी है। भवानीदयाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, तोताराम सनाढ्य और विष्णुदयाल ने प्रवासी भारतीयों के शोषण की ओर जिस भाषा में ध्यान दिलाया, वह हिन्दी थी। इस प्रकार बिना किसी राजनीतिक संरक्षण के, बिना किसी सत्ता के आश्रय के सहजभाव से हिन्दी की अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि का उन्मेष किया। इस उन्मेष में न कोई दुराव था, न कोई कपट था और न ही इसमें एक उद्धारकर्ता मसीहा का भाव था। इसमें केवल सेवा और समर्पण का भाव था। जिस विश्व-मानव की बात दो-दो विश्वयुद्धों की विभीषिका से गुजरकर पश्चिम की मदोन्मत्त शक्तियों ने एक अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में ली है, वह बात हिन्दी में बहुत पहले दुख की वास्तविकता से, करुणा की अनुभूति से उद्‌भासित हो चुकी थी। हिन्दी के अन्दर अन्तरराष्ट्रीय भूमिका के लिए यह एक सशक्त आधार है। यह आधार अपने इतिहास से प्राप्त आधार है, इसीलिए सुदृढ़ है। यह आरोपित या उधार लिया हुआ नहीं है। अधिकतर लोग समझते हैं कि संख्या का तर्क हिन्दी को राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय महत्व दिलाने में प्रमुख कारण है, पर वे भूल जाते हैं कि संख्या का बल एक छोटा बल है, साहित्य की समृद्धता का भी आधार एक छोटा आधार है।

व्यापक स्तर पर ग्राह्य भाषा के रूप में उसकी मान्यता और शक्ति उसकी संख्या से नहीं आयी है और न केवल उसके साहित्य के महत्त्व से आयी है, वह शक्ति तीन कारणों से विकसित हुई। पहला कारण तो यही है कि वह सदियों से अन्तः प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। इसी भाषा का व्यवहार जहाँ तीर्थों व व्यापारिक केन्द्रों में होता था वहीं रमता जोगियों के सत्संग में भी होता था। यह भाषा बहता नीर थी। दूसरा कारण हिन्दी की

वह विरासत थी, जो उसने अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत का कोई प्रदेश था, न मध्य प्राकृत का। ये समस्त प्रदेशों को जोड़नेवाली भाषाएँ थीं। हिन्दी भी इसी प्रकार की संस्कृत की तरह केन्द्रोन्मुख शक्ति की स्थापना करने वाली भाषा रही। हिन्दी भाषा का देश पूरा हिन्दुस्तान है, कोई एक प्रान्त या राज्य नहीं। हिन्दी की शक्ति का तीसरा कारण है उसका जनभाषाओं से गहरा सम्बन्ध। हिन्दी क्षेत्र में लगभग अठारह जनभाषाएँ हैं और इस क्षेत्र के व्यक्ति एक विचित्र प्रकार के द्विभाषा-भाषी हैं। ये बहुत निजी पारिवारिक परिवेश में एक भाषा बोलते हैं और एक व्यापक परिवेश में दूसरी भाषा। इस प्रकार दोनों को साधते चलते हैं, क्योंकि दोनों के प्रयोजन महत्त्वपूर्ण हैं- एक सीमित क्षेत्र की आत्मीयता और एक बड़े क्षेत्र के होने का भाव। हिन्दीभाषी जन इनमें से किसी का मोह छोड़ नहीं सकता, इसीलिए वह निरन्तर सन्तुलन बनाये रहता है। वह जनपद जीवन का संस्पर्श देता है। साथ ही पूरे देश की भावना को उमहाव देता है- जनपद की भाषा से। यह आकस्मिक संयोग मात्र नहीं है कि हिन्दी में तद्भव और तत्सम शब्दों का सन्तुलन है। वह हिन्दी में निरन्तर सामान्य जीवन से लेने तथा उन्हें जीवन में ढालने की क्षमता देता है और उसके साहित्य में छोटे-छोटे ग्रामांचल की पीड़ा को अंकित करने की तीव्र आकांक्षा भरता है।

दूसरी ओर, हिन्दी की बोलियों के लोक-साहित्य तथा लोक-गायकों के साहित्य में सबसे अधिक मुखरता राष्ट्रीय चेतना की है। अवधी, भोजपुरी, बुन्देली, गढ़वाली, छत्तीसगढ़ी, कौरवी, राजस्थानी-किसी भी क्षेत्र को लीजिए, प्रत्येक में राष्ट्र की एक मूर्त कल्पना है, उसके लिए न्योछावर होने का अपूर्व उत्साह है इसे आदान-प्रदान के कारण इस लोक और शास्त्र के बीच, लघु और विशाल के बीच, ग्राम और महानगर के बीच आदान-प्रदान कराते रहने के कारण ही हिन्दी एक जीवन्त भाषा के रूप में विकसित होती रही है। उसने निरन्तर कृत्रिम रूप में जड़ाऊ भाषा रूपों का तिरस्कार किया है, 'भदेस की भनिति' का आश्रय लेकर निरन्तर नयी ऊर्जा पायी है। आज के जमाने में किंग्स इंग्लिस और क्वीस इंग्लिस की बात उपहास्यास्पद हो गयी है। जब सत्ता का नियमन इने-गिने सामन्तों, सरदारों या मैंडरिनों (अफसरशाहों) के हाथों में नहीं रह गया है, सत्ता का स्रोत अनाम और असंख्य जनता हो गयी है, तब सामाजिक मान्यता का आधार बदल गया है और इस बदली हुई परिस्थिति में हिन्दी भाषा का एक रूप अपने आप प्रतिष्ठापित हो गया है। विगत पच्चीस वर्षों में जितनी द्रुत गति से इसमें परिवर्तन हुए हैं उतना परिवर्तन आधुनिक विश्व की कम भाषाओं में हुआ है। परिवर्तन की यह तेजी ही हिन्दी की सजगता और ऊर्जस्विता का प्रमाण है। यह तेजी ही उसे अन्तरराष्ट्रीयता प्रदान करने का एक पुष्ट आधार है।

अब तक मैंने जिन आधारों की बात की है, वे मुख्य रूप से सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधार हैं। अब हिन्दी भाषा की संरचना की विशेषताओं की बात करना

चाहूँगा, जो हिन्दी को इस तकनीकी युग में व्यापक रूप से ग्राह्य बनाने में प्रयोजक बन सकती है। इस भाषा की संरचना की तीन विशेषताएँ ऐसी हैं, जो इस दृष्टि से बहुत महत्त्व रखती हैं। पहली विशेषता यह है कि हिन्दी विश्लेषात्मक और संश्लेषात्मक दोनों है। न चीनी भाषा की तरह एकदम विश्लेषात्मक है और न ग्रीक व संस्कृत की तरह बहुत संश्लेषात्मक। इसमें दोनों के बीच एक सन्तुलन है, इसीलिए अर्थ की अस्पष्टता और सन्दिग्धता की गुंजाइश कम है। यान्त्रिक अनुवाद की सुविधा की दृष्टि से यह गुण बहुत उपयोगी है। इसकी संरचना की दूसरी विशेषता है इसकी शब्द रचना की क्षमता। इसमें यह अँग्रेजी से किसी माने में कम नहीं है। इसमें विभिन्न भाषाओं से उधार लिये शब्दों को, यहाँ तक कि प्रत्ययों को (दार-इयत्-इक जैसे) को भी अपनी प्रकृति में ढाल लेने की क्षमता है। इसके कारण सूक्ष्म अर्थच्छटाओं को व्यक्त करने की, एक पारदर्शी ढंग से व्यक्त करने की क्षमता का विकास हिन्द में हुआ है। हिन्दी को संस्कृत का एक अक्षय स्रोत प्राप्त है, पर वही एक स्रोत नहीं है, उसी स्रोत से उद्‌भूत लाखों की संख्या में तद्‌भव शब्द भी उसके पास हैं। ये अनेक रूपान्तरों के बावजूद किसी-न-किसी रूप में हिन्दी में मानीकृत हो गये हैं और इनमें ऐतिहासिक यात्रा के कारण नये अर्थ के वहन की क्षमता आ गयी है।

यह अवश्य है कि कि हिन्दी की शक्ति की पूरी पहचान हमारे देश में भाषा-योजना के आचार्यों ने नहीं की। उन्होंने ऊपर से तो जरूर कहा कि हम संस्कृत के शब्दों के तथा प्रत्ययों के आधार पर नये शब्द गढ़ेंगे, किन्तु उन्होंने संस्कृत का आधार न लेकर, अँग्रेजी का आधार लिया। उन्होंने अँग्रेजी के अर्थों को संस्कृत का खोल दिया। अपने आसपास अर्थों की तलाश नहीं की। इन अर्थों को समझनेवाले मजदूरों, किसानों, मिस्त्रियों, शिल्पियों, व्यवसायियों के प्रयोग को मापने की कोशिश नहीं की। उन्होंने प्रयोग लादना चाहा, जीवित प्रयोगों की पैमाइश नहीं की। एक सीमित रूप में यह काम शुरू हो गया है और यह आशा की जाती है कि अँग्रेजी की साजिश के बावजूद जनतन्त्र के दबाव के कारण आगे का जो भाषा-नियोजन होगा, वह सही ढर्रे पर होगा, शब्द रचना की पूरी क्षमता का भरपूर विनियोग होगा।

हिन्दी की संरचना की तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी वर्णमाला है। इसी के साथ-साथ जुड़ी हुई है, जो इस वर्णमाला को लिखने का देवनागर ढंग अक्षर को महत्त्व देता है, एक ध्वनि को नहीं। अक्षर को महत्त्व देने से इकाइयों की संख्या कम हो जाती है। जब विद्युतयान्त्रिकी, सांख्यिकी, भाषा विज्ञान, संगण-गणित और इंजीनियरिंग-ये सभी मिलकर एक टीम के रूप में काम करेंगे और पुनरावृत्तियों के आरोह-अवरोह क्रम को ठीक तरह से नाए-जोख लेंगे तो हिन्दी की अक्षरप्रधान संरचना को यन्त्र में ढलना काफी सुकर होगा, अधिक सुगम होगा-उन संरचनाओं की

अपेक्षा जहाँ पर ध्वनि अनुभाव्य इकाई है। हम इस क्षेत्र में जापानी का उदाहरण दे सकते हैं। जापान ने अपनी प्रौद्योगिकी का विकास अंग्रेजी के माध्यम से नहीं किया और बहुत कम समय में उन्होंने जापानी भाषा में संगणक (कम्प्यूटर) और बहुत सूक्ष्म और कुशल संगणक-बना लिये हैं। कोई कारण नहीं कि हम भी वैसा पाँच-दस वर्षों में न कर सकें।

संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी को अन्तरराष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार कराने में सक्रिय तटस्थता की नीति भी सहायक होगी। एक ऐसे समूह को साथ ले चलने का संकल्प हमारी विदेश नीति में है, जो समूह किसी एक गुट का पिछलग्गू बनकर नहीं रहना चाहता, जो अपनी स्वाधीनता सुरक्षित रखना चाहता है, पर साथ-ही-साथ एक संहत शक्ति का उदय भी चाहता है। इस समय यह अधिक शक्तिशाली न लगे, पर ज्यों-ज्यों बड़ी शक्तियों का उन्माद बढ़ेगा त्यों-त्यों इन देशों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती जाएगी। शस्त्रबल उस विवेक के आगे, आत्मबल के आगे झुकने लगेगा। उस समय ऐसी राजनीति का नेतृत्व करनेवाले हिन्दुस्तान की भाषा की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। आर्थिक शिकंजावाद भी अन्ततः शिकंजा कसने वालों के लिए संकट बनेगा, तब उस शिकंजे की भाषा भी ढीली पड़ेगी। वह अफ्रीका-एशिया की उदार और विश्वबन्धु-भाषाओं को अपने समकक्ष स्वीकार करेगी। शायद आगे आनेवाले बाजार का यथार्थ ही उसे विवश करेगा।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी की अन्तरराष्ट्रीय भूमिका एक स्वप्न नहीं हैं, नये विश्व मानव की एक माँग है और आनेवाले भविष्य की एक जाज्वल्यमान वास्तविकता है। परन्तु यह वास्तविकता केवल गर्व करने और आत्म सन्तुष्ट होने के लिए नहीं है। यह प्रतिष्ठा का बोध जगाने और उस प्रतिष्ठा के अनुकूल एक बड़ी चुनौती स्वीकार करने का आमन्त्रण देती है। हिन्दीभाषी जन स्वाती की प्रतीक्षा न करें, वे अपने तप के ताप से स्वयं को बादल के रूप में रूपान्तरित करें। धरती को हिन्दी के पावस की प्रतीक्षा है।

(राजकमल प्रकाशन से साभार)

भाषाओं का महत्व

लक्ष्मीदास

भाषा कोई राजनीतिक हथियार नहीं है जिससे अपने विरोधियों को हाँका जा सके या अपनी पैठ बनायी जा सके। भाषा संवाद का एक माध्यम है। भाषा साहित्य रचना का माध्यम है। भाषा संस्कृति संरक्षण का माध्यम है। भाषा इतिहास सुरक्षा का माध्यम है। भाषा एक ऐसी आवश्यकता है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध जोड़ सकता है। भाषा के माध्यम से हम एक-दूसरे के सुख-दुख को समझ सकते हैं। एक-दूसरे का दुख दर्द बाँट सकते हैं। भाषा के लिए पढ़ा-लिखा होना जरूरी नहीं है। अनपढ़ भी बहुत अच्छी भाषा बोलता है। लेकिन पढ़ने-लिखने के लिए भाषा की आवश्यकता है। यदि कोई पढ़ा-लिखा बनना चाहता है तो उसे भाषा चाहिए, भाषा पढ़े-लिखे पर निर्भर नहीं है। पढ़ा-लिखा भाषा पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से भाषा सहज लेकिन अत्यन्त महत्वपूर्ण और समाज का सशक्त माध्यम है।

हम लोग मातृभाषा की बात करते हैं। मातृभाषा क्या है। मातृभाषा वह है जो मेरी माँ बोलती है। बच्चा पहला शब्द अपनी माँ से ही सीखता है और बच्चे के लिए सबसे आसान शब्द सीखना है 'माँ'। माँ जो भाषा बोलती है उसके बारे में कहा जाता है कि 12 कोस के बाद भाषा बदल जाती है अर्थात बोली बदल जाती है। उसका लहजा बदल जाता है उसके शब्द बदल जाते हैं। शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं तो फिर मातृभाषा एक कैसे हो सकती है। किसी देश की मातृभाषा एक कैसे हो सकती है।

देश जितना बड़ा होगा उसकी बोलियाँ, मातृभाषा उतनी ही अधिक होंगी, क्योंकि हर 12 कोस के बाद माँ अलग भाषा बोलेगी। इसलिए एक भाषा का आग्रह गलत है। भाषा को एक सशक्त साधन रहने देना चाहिए, इसे समस्या नहीं बनाने देना चाहिए। कहा जाता है कि भारत में 600 से भी अधिक बोलियाँ है और 22 संवैधानिक भाषाएँ हैं।

भारत जब आजाद हुआ तो संविधान सभा में भाषा को लेकर बहुत बहस हुई थी। कई बड़े नेताओं को लगता था कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कर देना चाहिए। संविधान सभा

में हिन्दी को लेकर बहुत तर्क हुए थे। लोगों की शिकायत थी और आज तक वह शिकायत है कि नेहरू जी चाहते तो उस समय हिन्दी राष्ट्रभाषा बन जाती। लेकिन न तो वह सम्भव था और न उचित ही। हमें समझ लेना चाहिए कि जैसे हिन्दी भाषियों को अपनी भाषा से प्यार है। हिन्दी भाषा से लगाव है, भावनात्मक जुड़ाव है। वैसे ही अन्य भाषा भाषियों को भी अपनी-अपनी भाषा से जुड़ाव है। भावनात्मक लगाव है, कोई भी, किसी पर अपनी भाषा लादने का प्रयास करेगा तो वह समाज अपनी भाषा की सुरक्षा का प्रयास अवश्य करेगा। इससे जो भाषाएँ जोड़ने का माध्यम हैं वे तोड़ने का कारण बन जाती हैं और इससे देश कमजोर होता है।

गांधीजी ने देश की हर क्षेत्रीय भाषा का सम्मान किया क्षेत्रीय भाषाओं को महत्व भी दिया। हिन्दी का प्रचार देशभर में हो, इसका भी प्रयास किया। इसलिए दक्षिण में हिन्दी प्रचार के लिए कई लोगों को भेजा लेकिन गांधीजी के विचार में भाषा की कट्टरता नहीं है। गांधीजी ने हिन्दुस्तानी भाषा को आगे बढ़ाने की बात की। हिन्दी में ऐसे कई कठिन शब्द हैं जिसके लिए हिन्दीवालों को भी शब्दकोश देखना पड़ता है। इसलिए गांधीजी ने हिन्दी भाषा में ऐसे शब्दों के प्रयोग के प्रचलन का समर्थन किया जो भले ही किसी अन्य भाषा के हों लेकिन लोक प्रचलन की भाषा में इस्तेमाल किए जाते हैं। जिन्हें लोग सहजता से समझ सकें। जैसे विश्वविद्यालय के बजाय यूनिवर्सिटी समझना आसान है। गांधीजी ने हिन्दुस्तानी भाषा की बात की, लेकिन क्षेत्रीय भाषाओं के महत्व को कम नहीं होने दिया। विनोबाजी ने भाषाओं को जोड़ने के लिए देवनागरी लिपि के चलन की बात की थी और प्रयास भी किया। आचार्य विनोबा भावे ने तो यहाँ तक प्रमाणित किया कि जिन भाषाओं के पास अपनी लिपि नहीं है, देवनागरी लिपि उस कमी को पूरा कर सकती है। इस देश में भाषाओं को लेकर जब झगड़े हुए तब देश में त्रिभाषा फार्मूला लागू किया गया, जिसमें हिन्दी, क्षेत्रीय भाषा और अँग्रेजी शामिल थी। इस त्रिभाषी फार्मूले से हर भाषा भाषी की समस्या का समाधान हुआ। देश में आजादी के बाद भाषाई आधार पर प्रान्तों का गठन भी इसी दिशा में एक सशक्त पहल थी और उसके सुखद परिणाम आये।

हम राष्ट्र में एक भाषा की बात करते हैं। यहाँ तो प्रान्तों की स्थिति ऐसी है कि वहाँ भी एक भाषा नहीं है। एक दूरी के बाद भाषा बदल जाती है। बदलाव इतना अधिक होता है कि एक जगह के लोग दूसरी जगह की भाषा नहीं बोल पाते हैं और न ही समझ पाते हैं। भाषा विकास, समाज के आवागमन पर बहुत निर्भर करता है। जहाँ-जहाँ आवागमन के साधन अधिक हैं, वहाँ-वहाँ भाषा में एकरूपता अधिक है। लेकिन जहाँ आवागमन के साधन कम है, वहाँ भाषा की अधिक समस्या है। पहाड़ी क्षेत्रों में यह समस्या बहुत ही अधिक है।

हिमाचल प्रदेश की बात यदि हम सोचें तो वह आबादी की दृष्टि से एक छोटा सा प्रदेश

है, लेकिन यहाँ कई भाषाएँ बोली जाती हैं। जिन्हें हम बोलियाँ कहते हैं। एक समय था, जब एक जगह से दूसरी जगह जाना बहुत ही कठिन था। उस समय यदि पहाड़ के एक कोने में कोई घटना या दुर्घटना हो जाती थी तो ढोल बजाया जाता था। ढोल की विशेष आवाज से ही यह सूचना या अन्दाजा लग पाता था कि वह ढोल क्या सूचना दे रहा है। वहाँ कोई प्रसन्नता की सूचना है या दुख का समाचार। अब आप सोचिए, यहाँ भाषा क्या करेगी और कौन-सी भाषा को राष्ट्रभाषा कहेंगे।

हिमाचल का एक भाग पंजाब से लगता है। उस हिस्से पर पंजाबी भाषा का प्रभाव है। वहाँ की भाषा न तो पंजाबी है और न हिन्दी, न पहाड़ी ही। इसमें भी जो पढ़े-लिखे लोग हैं उनकी भाषा में पंजाबी का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। उसी क्षेत्र के साथ का क्षेत्र है वहाँ भाषा की खीचड़ी बन गयी है।

लोग रोजगार की तलाश में बाहर निकले तो जहाँ गये वहाँ की भाषा का असर उनकी बोलचाल की भाषा पर हुआ और कभी-कभी तो वे लोग न हिन्दी सीख पाये और न अपनी भाषा ही बचा पाये। इसलिए एक नयी भाषा बन गयी जैसे— ''हमारे पासे में जब नेहरी चलती है तो मक्की के पौधे ढहपौने हैं'' अर्थात 'हमारी तरफ जब आँधी आती है तो मक्की के पौधे गिर जाते हैं।' उक्त वाक्य में हिन्दी भी है, पहाड़ी भी है और पहाड़ी भाषा के हिन्दी शब्द भी बनाये गये हैं। इसी प्रकार जो क्षेत्र जम्मू से लगता है, वहाँ की भाषा पर डोगरी भाषा का असर है। एक ही जिला कांगड़ा-जिला जहाँ कहीं पंजाबी का असर नजर आएगा, कहीं डोगरी भाषा के शब्द इस्तेमाल होते हुए दिखाई देंगे और कहीं ठेठ पहाड़ी भाषा, लेकिन उसका लहजा अलग सुनने को मिलेगा। थोड़ा आगे बढ़े तो मण्डी जिला की भाषा अलग हो जाती है, लेकिन कांगड़ा और मण्डी के लोग आपस में एक-दूसरे की भाषा को समझ लेते हैं फिर भी आपस में बोलचाल के लिए हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। लेकिन लाहौल-स्पिति जिला की स्थिति बिल्कुल अलग है। लाहौल और स्पिति ऐसे क्षेत्र हैं जो वर्ष के काफी समय बर्फ से प्रभावित रहते हैं। आवागमन अभी भी कठिन है, हालाँकि सड़कें बनी हैं। यहाँ तो एक ही जिला, लेकिन लाहौल वालों के लिए स्पिति की बोली समझना कठिन और स्पिति वालों के लिए लाहौल की भाषा समझना कठिन है। आगे यदि किन्नौर चले जाएँ तो हिमाचल के किन्नौर जिले की बोली को शेष हिमाचल नहीं समझ पाता। महासू, जो अब शिमला कहा जाता है कि बोली बिल्कुल अलग हो जाती है। चम्बा में भी, जो क्षेत्र जम्मू से सटा हुआ है, वहाँ की भाषा पर डोगरी शब्दों का असर है, लेकिन यदि आदिवासी क्षेत्र पांगी की ओर बढ़ जाएँ तो बोली बिल्कुल बदल जाती है। पूरे हिमाचल प्रदेश की यही स्थिति है। फिर भी यहाँ कांगड़ा क्षेत्र का एक ऐसा बड़ा भाग है, जहाँ की बोली लोग आपस में समझ लेते हैं।

लेकिन यदि अरुणाचल प्रदेश चले जाएँ तो वहाँ लगभग 27 प्रकार की आदिवासी जातियाँ हैं। उनकी संस्कृति भी अलग और भाषा भी भिन्न। वास्तव में जो क्षेत्र आवागमन के लिए जितना कठिन है उस क्षेत्र में भाषा की उतनी ही बड़ी समस्या है।

इसलिए भाषा को लोगों की सुविधाओं की दृष्टि से ही देखना चाहिए। अपने आग्रहों को उसमें घुसने नहीं देना चाहिए। यह भारत की महानता है कि यहाँ हर भाषा को पलने का, फैलने का अधिकार है। कोई भी, किसी भी क्षेत्र में अपनी भाषा का प्रचार प्रसार कर सकता है। वैसे भी दिल्ली जैसे बड़े शहरों में रोजगार की तलाश में या व्यापार की तलाश में जो लोग आते हैं, वह यदि अधिक मात्रा में किसी एक क्षेत्र में बसे हैं तो वहाँ सहज ही उनकी भाषा का संचार होता है।

इस तरह जब हर व्यक्ति को अपनी भाषा बोलने का अधिकार है। अपनी भाषा का प्रचार करने का अधिकार है तो हमें किसी भाषा विशेष को राष्ट्रीय स्तर पर लादने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। अपनी भाषा का प्रचार अवश्य करना चाहिए। फिर किस भाषा को लोगों चुने, यह उन पर छोड़ देना चाहिए। भाषा विशेष का आग्रह जोड़ता नहीं तोड़ता है और शंकाएँ पैदा करता है। एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा करता है, जो राष्ट्रीय एकता को कमजोर करता है। भाषाओं को भाषा ही रहने देना चाहिए, उन्हें हथियार नहीं बनाना चाहिए। भारत जैसे बड़े और विभिन्नताओं वाले देश में न तो यह अनावश्यक है और न सुखमय।

सम्पर्कः सम्पादक, 'हरिजन सेवा', हरिजन सेवक संघ,
किंग्जवे कैम्प, दिल्ली.110009

भाषा और स्वतन्त्रता:
सवाल लोकतन्त्र, जन और राष्ट्र का!

रामशरण जोशी

'बोल के लब आजाद हैं तेरे
बोल जबां अब एक तेरी है (फैज अहमद फैज)

देश के संविधान के अनुच्छेद 19 ने नागरिकों को 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' का अधिकार प्रदान किया है। इस अधिकार के तहत ही वाक्-स्वतन्त्रता, मीडिया की आजादी और विभिन्न विचारों व विचारधाराओं के माध्यम से लोकतन्त्र को जीवन्त रखा जाता है। किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है हमारी 'भाषा'। यह एक सर्वकालिक व सार्विक सत्य है। बगैर भाषा-बोध के मनुष्य अपने आन्तरिक व बाहरी अस्तित्व को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो पाता है। वह कई प्रकार की सीमाओं से घिरा स्वयं को पाता है। एक तरह से 'बेजुबान' बना रहता है। भाषा, जन को संस्कारित ही नहीं करती है, बल्कि उसे अपने परिवेश, समाज और व्यवस्था से भी जोड़ती है। जब सवाल उठता है आजादी या स्वतन्त्रता का, तब तो इसका परिप्रेक्ष्य ही बदल जाता है। देखा जाए, भाषा और आजादी परस्पर पूरक होती हैं; भाषा के अभाव में स्वतन्त्रता अव्यक्त रहती है; आधी-अधूरी रहती है। क्योंकि भाषा और स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्ध एक बृहद जगत की रचना करते हैं। इस जगत का दायरा विशाल होता है जिसमें जन, समाज और राज्य समा जाते हैं। जब समाज और राज्य की उपस्थिति दर्ज होती है तब भाषा और नागरिक के आपसी सम्बन्धों में एक नया आयाम भी जुड़ जाता है। यह आयाम नयी शक्तियों को अपने साथ लेकर के आता है और नागरिक को अपने परिवर्तित पहचान व भूमिका का अहसास करता है। इस सन्दर्भ में, भाषा कोरी भाषा या 'निरीह माध्यम' नहीं रहती है, बल्कि सत्ता विमर्श या हैसियत विमर्श की भूमिका निभाने लगती है। सामान्य तौर पर कह सकते हैं भाषा केवल मानव की भावनाओं, संवेदनाओं, पीड़ाओं,आक्रोश, विचारों, कल्पनाशीलता आदि को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम होती है। लेकिन यह पूर्ण सत्य नहीं है। यह एक प्रकार का आभासी

सत्य है। जब व्यक्ति निज या परिवार के वृत्त से निकलकर लोकवृत में प्रवेश करता है, नयी शक्तियों के साथ उसकी मुठभेड़ होती है, तब भाषा के नये-नये रूप और अभिव्यक्ति की शैलियाँ सामने आने लगती हैं। आदिम समाज से लेकर इक्कीसवीं सदी के सुपर टेक्नोलॉजी समाज के पड़ाव या उत्तर आधुनिक काल के बहुस्तरीय जटिल समाज तक की मानव-भाषा भी सहज से दुरुह-जटिल होती गयी है, या अनेकार्थी बन गयी है। भाषाविदों और समाजशास्त्रियों का मानना है कि वैसे तो भाषा सतह पर संचार का माध्यम है यानी अभिव्यक्ति का माध्यम। लेकिन, भाषा स्वयं में कोई शक्ति नहीं, जब तक इसकी अभिव्यक्ति मूल्यगत या विचारगत या भावप्रधान नहीं बन जाती है। जब कोई सन्देश इससे प्रतिध्वनित होता है तब भाषा के चरित्र की वास्तविक पहचान होती है। एक बार प्रसिद्ध साहित्यकार जॉर्ज ऑरवेल ने कहा था कि विचार प्रधान भाषा विचारों का प्रतिनिधित्व करती है और विश्व को शक्ल देती है।

यह हमें ध्यान रखना चाहिए की भाषा का जन्म और उसकी यात्रा शून्य में नहीं हुए हैं, बल्कि ठोस भौतिक विकास के साथ इसकी विकास यात्रा का भी सम्बन्ध रहा है। जैसे-जैसे समाज और राज्य व्यवस्था का विकास होता रहा है, भाषा भी उससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित रहती रही है। भाषा के तेवर कैसे रहें, राज्य इसका कम-अधिक निर्धारण करता रहा है।

महात्मा गांधी अक्सर कहा करते थे कि भारत में अँग्रेज रह सकते हैं, लेकिन अँग्रेजी व अँग्रेजियत चली जाए। उनका कुल आशय था आम भारतीय जन को उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का अहसास कराना, विदेशी भाषा से यह सम्भव नहीं था। अँग्रेजी भाषा साम्राज्यवादी शासन, पद, श्रेणी, ग्लैमर, शोषण का माध्यम बन चुकी थी। भारतीय जन की दासता का यह प्रतीक थी, न कि उसकी आजादी या स्वतन्त्रता की। यह अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से कट चुकी थी। यह गुलामी का माध्यम बन चुकी थी। मैकाले ने अँग्रेजी भाषा में शिक्षा के माध्यम से ही एक ऐसे वर्ग या क्लास का निर्माण किया जिसके लोग सूरत-शक्ल-रंग से तो हिन्दुस्तानी लगते थे, लेकिन आचार-विचार-व्यवहार में 'काले शासक' थे। कालान्तर में यही वर्ग देश का 'अभिजन वर्ग' कह लाया। भगत सिंह ने भी इस वर्ग को 'काले शासक' कहा है क्योंकि इनकी विदेशी भाषा में मनुष्य की परतन्त्रता का भाव समाया हुआ था। इसलिए, बाल गंगाधर तिलक रहे हों, या रविन्द्रनाथ ठाकुर, गांधी, सुभाषचन्द्र बोस, सभी ने एक स्वर से स्वदेशी भाषा का पक्ष लिया। बेशक, इस दृष्टि से सभी ने हिन्दी को गुंजित किया। इसमें स्वतन्त्र भारत की भाषा बनने के सभी जरूरी गुण मौजूद हैं।

यहाँ मैं हिन्दी की वकालत कतई नहीं कर रहा हूँ। यह देश की 'राज भाषा' है, न कि 'राष्ट्र भाषा'। मेरा आशय सिर्फ स्वदेशी बनाम विदेश भाषा और उनके जन की आजादी से रिश्तों को लेकर है। जब स्वदेशी या निज भाषा का सवाल उठता है तो यह सीधे सामान्य

जन से जुड़ जाता है क्योंकि राज या सरकार के साथ उसका जीवन्त माध्यम कैसे रहे और उसको संविधान द्वारा प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता सहित मूल अधिकारों की रक्षा व प्रयोग कैसे करे? यह तभी सम्भव है जब उसका लोक व्यवहार और राज-सम्बन्ध निज भाषा के जरिये होता रहे। गांधीजी ने ठीक ही कहा है, ''मुसलमान बादशाह भारत में फारसी-अरबी को राष्ट्रभाषा नहीं बना सके। उन्होंने हिन्दी के व्याकरण को समझ कर उर्दू लिपि काम में ली और फारसी शब्दों का प्रयोग किया। परन्तु आम लोगों के साथ अपना व्यवहार वे विदेशी भाषा के द्वारा नहीं चला सके। यही हालत अँग्रेजी अधिकारियों से छिपी हुई नहीं है।'' (मेरे सपनों का भारत)

परेशानी तब पैदा होती है जब किसी भी भाषा को सिर्फ रोटी-रोजी का माध्यम मान लिया जाता है। उसे उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखने के बजाय सिर्फ अक्षर ज्ञान और नौकरी प्राप्ति में समेट दिया जाता है। यह एक पुरानी और शासक वर्ग द्वारा प्रतिपादित धारणा है। इस अवधारणा और विचारधारा के लोकप्रियकरण से शासकों को सबसे बड़ा फायदा यह पहुँचता है कि वे बड़ी सुविधापूर्वक अपने उन इरादों को छिपाने में सफल हो जाते हैं जो जन-विरोधी हो सकते हैं। स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थों को भी अन्तिम जन तक नहीं पहुँचने देते हैं। लोकतन्त्र को 'मत पेटी या ईवीम' तक ही सीमित कर देते हैं। लोकतन्त्र की बुनियादी शर्त होती है 'स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और भाईचारा' यह तभी सम्भव है जब शिक्षाकाल से ही भाषा का सही चुनाव रहे। यदि भाषा-माध्यम का चुनाव सटीक रहता है तो अन्तिम जन आजादी के अर्थों को सही ढंग से समझ सकेगा और जिम्मेदारी के साथ उसका प्रयोग भी कर सकेगा।

भाषा न तो स्थिति निरपेक्ष होती है और न ही सत्ता निरपेक्ष। भाषा का चरित्र या आचार-व्यवहार स्थितियों के अनुसार ढलता रहता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में भी भाषा प्राय: सत्ता द्वारा अनुकूलित होती रहती है। इसका विशिष्टिकरण उन सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक मूल्यों को जन पर आरोपित करने में सहायक होता है जिसे शासक वर्ग चाहता है और अपने हितों की रक्षा करता है। जाहिर है, ऐसी परिस्थिति में भाषा का मूल तत्व हाशिये पर चला जाता है और उसका स्थान ले लेता है 'सत्ता शस्त्र'। भाषा के माध्यम से ऐसे मिथकों, रूपकों, उपमाओं, प्रतीकों, प्रतिबिम्बों, कथाओं-प्रहसनों को प्रचारित-प्रसारित किया जाता है जो जन और स्वतन्त्रता के मध्य 'आत्म छलावों' की दीवार खड़ी कर देता है। एक कृत्रिम स्वतन्त्रता का मायाजाल अन्तिम जन के चारों ओर रच दिया जाता है। इस दशा में स्वतन्त्रता 'पारदर्शी' नहीं रह पाती है। वह एकांगी बन जाती है। दूसरे शब्दों में शक्तिशाली और प्रभावशाली वर्ग की ढाल बन जाती है। उसका रिसाव भी अन्तिम जन तक नहीं पहुँच पाता है। सारांश में, वह एक 'उपकृत स्वतन्त्रता' का पात्र बन जाता है।

'उपकृत स्वतन्त्रता' से मेरा अर्थ एक ऐसी आजादी से है जिसे एहसान या उपकार के भाव के साथ दी जाती है। तीसरी दुनिया और भारत जैसे संक्रमणकालीन देशों में ऐसी बासी या झूठी आजादी काफी फलती-फूलती है। इसे बड़े सुनियोजित ढंग से लोकप्रिय बनाया जाता है। ऐसे शब्दों को गढ़ा जाता है जो शासक वर्ग को सुहाएँ। एक प्रकार से, स्वतन्त्रता चुनिन्दा और अनुकूलित रहती है। एक सैन्य या मजहबी सरकार कभी भी ऐसी भाषा को प्रोत्साहित नहीं करेगी जो जन में चेतना, विवेक और सवाल पैदा करती हो। अधिनायकवादी या जातीय शुद्धतावादी शासनों में भाषा को विवेक-तर्क-प्रश्न शून्य बनाया जाता है और जन की उस आजादी का बारीकी से अपहरण कर लिया जाता है जिसकी 'प्रतिरोध' या 'वास्तविक स्वतन्त्रता' में परिवर्तित होने की आशंका रहती है।

आमतौर पर स्वतन्त्रता का अर्थ सिर्फ राजनीतिक आजादी से लिया जाता है। संविधान प्रदत्त अधिकारों से इसे जोड़ा जाता है। प्रमुख संविधान निर्माता डॉ. आम्बेडकर ने कहा भी है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता आधी-अधूरी है। जब तक व्यक्ति को सामाजिक-आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता बेमानी रहेगी। उनके ये विचार दलितों के सम्बन्ध में थे। उन्हें आशंका थी कि विदेशी शासकों के जाने के बाद स्वर्ण जातियाँ दलितों का दमन करेंगी क्योंकि सदियों से वे ऐसा करती आ रही हैं। इसलिए जातिगत शोषण और शासन से रक्षा की दृष्टि से संविधान में पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। उनके इस हस्तक्षेप का लाभ यह हुआ कि संविधान में दलितों और आदिवासियों के लिए शासन-प्रशासन में आरक्षण की व्यवस्था की गयी।

वास्तव में स्वतन्त्रता का दायरा बहुआयामी और व्यापक है। जहाँ व्यक्ति को अपनी पसन्द के अनुसार सरकार चुनने का अधिकार है, वहीं उसे विचारों को व्यक्त करने, पूजा पद्धति चुनने, आवागमन, बसने, व्यवसाय चयन आदि का भी अधिकार है। दक्षिण अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पाउलो फ्रेरे कहते हैं, ''शिक्षा मुक्ति की प्रक्रिया है।'' लेकिन, भाषा के बिना शिक्षा सम्भव नहीं है। वास्तव में,भाषा मुक्ति और स्वतन्त्रता की दिशा में पहला विश्वासयुक्त कदम है। इसीलिए गांधीजी ने जहाँ हिन्दी सहित भारतीय भाषाओं पर जोर दिया था, वहीं भाषा के सवाल को स्वराज के साथ भी जोड़ा। इसीलिए वे कहते भी हैं, ''स्वराज का अर्थ जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्ता पर कब्जा करने और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें है।'' यह तभी मुमकिन हो सकता है जब व्यक्ति मुक्त और स्वतन्त्र रहे।

भाषा और स्वतन्त्रता के सम्बन्धों को केवल भावनात्मक ढंग से ही नहीं समझा जा सकता है और न ही इसे समझना चाहिए। हालाँकि यह सही है कि मातृभाषा का सम्बन्ध भावनात्मक होता है। एक स्थान पर बापू ने कहा भी है, ''मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा जिस तरह अपनी माँ की छाती से।

वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है।'' (मेरे सपनों का भारत)

गांधीजी का आशय यहाँ केवल मातृभाषा से नहीं रहा है। वे इसे जहाँ भारत की स्वतन्त्रता के रूप में देख रहे हैं, वहीं इनसान के रूप में उसकी पूर्ण स्वाधीनता के रूप में भी देख रहे हैं।

भाषा केवल शासन करने या आजीवका-अर्जन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह प्रतिरोध और जन संघर्षों का माध्यम भी है। विश्व में साम्राज्यवादी दासता के विरुद्ध 'मुक्ति संघर्ष' और 'जन क्रान्तियों' का संचार माध्यम देशज भाषाएँ रही हैं। 1857 का प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम रहा हो या बीसवीं सदी का स्वतन्त्रता आन्दोलन, दोनों में ही हिन्दी या हिन्दुस्तानी समेत भारतीय भाषाओं ने अपनी सशक्त भूमिका निभायी है। हिन्दी, उर्दू, बांग्ला, मराठी आदि भाषाओं में विपुल क्रान्तिकारी साहित्य उपलब्ध है। यही बात अमेरिकी, फ्रेंच, रूसी, चीनी, क्यूबाई क्रान्तियों के बारे में कही जा सकती है। अँग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, चीनी, स्पेनिश आदि भाषाओं के माध्यम से स्वतन्त्रता संघर्ष चले और अपनी मंजिल तक पहुँचे। अफ्रीकी और लातिनी देशों के मुक्ति व स्वतन्त्रता आन्दोलनों का सच भी यही है। प्रसिद्ध अफ्रीकी लेखक (केन्या) न्गुगी वा थ्योंगो अफ्रीकी मुक्ति संघर्षों के बार में लिखते हैं, ''अपनी भाषा,अपनी संस्कृति और अपनी जनता के वीरतापूर्ण इतिहास की जड़ों में जाकर ही हम केन्या की एक ऐसी देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रीय संस्कृति और साहित्य की रचना कर सकते हैं जो अनेक विदेशियों के मन में ईर्ष्या और केन्यावासियों के मन में गर्व की भावना पैदा करे।'' इस सन्दर्भ में 1857 के संग्राम के दौरान प्रकाशित होने वाले अनेक उर्दू, बांग्ला पत्र याद आते हैं, जिनमें प्रमुख था - पयामे आजादी। इसके सम्पादक को फाँसी दी गयी थी। पिछली सदी में प्रेमचन्द, गणेश शंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त सहित सभी भाषाओं में ऐसे लेखक, कवि और पत्रकार थे, जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से अपनी देशज भाषा को आजादी से जोड़ा था।

आदिवासियों में भी यह विरासत देखने को मिलती है। उदाहरणस्वरूप 19वीं सदी के अन्त में जितने भी जनजातीय विद्रोह हुए थे सभी का संचार माध्यम आदिवासी बोलियाँ या भाषाएँ रही हैं, न कि हिन्दी या अँग्रेजी। बिरसा मुण्डा इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। दक्षिण राजस्थान में भील-विद्रोह की भी यही कहानी है। अविभाजित बंगाल में स्वाधीनता संघर्ष का माध्यम बांग्ला भाषा ही रही है। काजी नजरुल इस्लाम इसके प्रखर शायर थे। हमें यह भी याद रखना होगा कि 1971 में वर्तमान बांग्लादेश की स्वतन्त्रता का सबसे मुख्य कारण बांग्ला भाषा रही है। एक धर्म के बावजूद उत्तरी पाकिस्तान के मुस्लिम बंगालियों ने पश्चिमी पाकिस्तान की भाषा उर्दू के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था, जिसका अन्ततोगत्वा परिणाम रहा दिसम्बर 1971 में बांग्लादेश के रूप में एक स्वतन्त्र

राष्ट्र का जन्म।

किसी भी लोकतान्त्रिक देश में नागरिकों की स्वाधीनता को सुरक्षित व साबुत रखने के लिए भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है, क्योंकि यह संचार का एक ऐसा माध्यम है जो राज्य और उसके नागरिकों के बीच संवाद बनाये रखता है। यदि संचार की भाषा निर्जीव है या ऐसी मूल्यव्यवस्था की वाहक व पोषक है जो नागरिकों को प्रजा बनाये रखना चाहती है या हुकूमत के कहार के रूप में देखना चाहती है, तब वह नागरिक स्वतन्त्रता की वाहक नहीं होगी। वह 'चारण संस्कृति' की वाहक बन जाएगी।

भाषा नागरिक को राज्य के चरित्र की पहचान कराती है, उसके परिवेश में सक्रिय नाना प्रकार की शक्तियों के प्रभाव के सम्बन्ध में ज्ञान पैदा करती है। सरकार के फैसलों को स्वीकार या अस्वीकार करने की ताकत से नागरिक को लैस करती है। सरकार ही क्यों, अन्य संस्थागत फैसलों के साथ सहमति या असहमति का विवेक भी उसमें पैदा करती है। नागरिक को आस्तिक रहना चाहिए या नास्तिक, इसकी स्वतन्त्रता की क्षमता भी नागरिक में भाषा से ही आती है। यह तभी मुमकिन होता है जब जन का सम्बन्ध ऐसी भाषा के साथ रहे जो उसमें वैज्ञानिक समझदारी विकसित करती हो और वास्तविक स्वतन्त्रता के बीज अंकुरित करती रहे। जब किसी भाषा का इस्तेमाल सिर्फ 'अन्ध आस्था' पैदा करने के लिए किया जाता है तब वह स्वतन्त्रता के स्थान पर अधिनायकवाद, व्यक्तिपूजा, किवदन्तियों की उपासना और चरम वैचारिक अन्धत्त्व को जन्म देती है। इसलिए, स्वतन्त्रता का सम्बन्ध सिर्फ नागरिक की दैहिक आजादी से ही नहीं है, उसकी वैचारिक स्वतन्त्रता के साथ भी गहरा सम्बन्ध है। इसके अर्जन से ही नागरिक पूर्ण स्वाधीन नागरिक का पात्र बनता है। एक जेनुइन स्वतन्त्रता के लिए व्यक्ति की दैहिक और वैचारिक स्वतन्त्रता बुनियादी शर्त है।

उर्दू के प्रसिद्ध शायर फैज अहमद फैज भाषा और आजादी के अन्तरसम्बन्धों को बड़ी खूबसूरती के साथ इन शेरों में व्यक्त करते हैं :

बोल के लब आजाद हैं तेरे, बोल जबां अब तक तेरी है
तेरा सुतवां जिस्म है तेरा, बोल केरू जां अब तक तेरी है।

इन शेरों में जिस्म, लब और जां का अनुपम संगम है। जहाँ देह पर व्यक्ति के पूर्ण अधिकार की बात कही गयी है, वहीं इसे जां व लब के साथ भी जोड़ा गया है। दूसरे शब्दों में, देह, वाणी, चेतना और विचार पर व्यक्ति के पूर्ण अधिकार के बाद ही असली स्वतन्त्रता के उपभोग का वह अधिकारी बन सकता है। आंतरिक या भीतरी स्वतन्त्रता की अनुपस्थिति में बाह्य स्वतन्त्रता की पूर्ण अनुभूति सम्भव नहीं है। इसके लिए आवश्यक है की मनुष्य सभी प्रकार से निर्भय रहे। भूख, अभाव, वंचन से मुक्त रहे। इसके पश्चात ही वह निर्भय बन सकता है, उसका चित्त उदात्त हो सकता है। ऐसी भाषा की जरूरत है जो उसे उद्धात्त और निर्भय बनाये। इस सन्दर्भ में हम गुरुदेव

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता 'जहाँ चित्त भय-शून्य' को याद कर सकते हैं। इस कविता में कवि की शब्द यानी भाषा, विचार, स्वतन्त्रता और देश की अद्‌भुत अभिव्यक्ति गूँजती है। यह समस्त मानवता और विश्व को सम्बोधित है। करीब एक सदी से भी पहले लिखी गयी इस विश्व प्रसिद्ध कविता (प्रार्थना) में गुरुदेव की अभिलाषा है कि वे अपने देश को ऐसी जगह देखना चाहते हैं जहाँ शब्द सत्य की गहराई से निकलें, जहाँ विचार उन्मुक्त होकर बहते रहें। विवेक का झरना मृत प्रवृतियों के रेगिस्तान में कभी भटके नहीं। विचार और कर्म का सदैव विस्तार होता रहे। स्वतन्त्रता के स्वर्गिक आनन्द में उनका देश जाग्रत हो। कविता का भावार्थ है कि मानुष समस्त बन्धनों-संकीर्णताओं से मुक्त होकर वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति करे। अर्थ को विस्तार दें तो हम कह सकते हैं कि जातीय, धार्मिक, जातिगत, भाषागत जैसी संकीर्ण दीवालों से ऊपर उठ और भयमुक्त हो कर सोचें-विचारें। वास्तविक आजादी का झरना तभी बहेगा, जब जन की भाषा और स्वतन्त्रता एकाकार होंगी इसके साथ ही राज्य इस झरने के कल-कल को समाज के अन्तिम जन की धमनियों में पूरी प्रतिबद्धता से पहुँचाएगा।

सम्पर्कः 105, समाचार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेस -1, एक्सटेंशन, दिल्ली 110091

आदिवासियों की भाषा और चुनौतियाँ

रोज केरकेट्टा

मानव परिवार का गठन और भाषाओं का उद्‌भव साथ-साथ हुआ है। भाषा पहले ध्वनियों के रूप में थी। फिर ध्वनियों के संयोग से शब्द बने। ध्वनियों को स्वर और व्यंजन के रूप में वर्गीकृत किया गया जो आगे चल कर भाषा-विज्ञान और व्याकरण के रूप में विकसित हुआ। स्वर, वर्ण, शब्द के बाद वाक्य विन्यास हुआ। छोटे-छोटे समानधर्मी समूहों में यह विकसित हुआ, वह भी दिनचर्या की आवश्यकता सामने पड़ी या आवश्यकता हुई को लेकर। आगे चलकर समूह या समुदायों ने अपने विचार, भावना, आचार और अनुभूतियों को वाक्यों के माध्यम से व्यक्त किया जिसे भाषा कहा गया। सहज ही कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम भाषा है। अभिव्यक्ति के अन्य माध्यम मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला, रंगकर्म आदि हैं। वर्तमान में कूटभाषा और कम्प्यूटर की भाषा भी लोकप्रिय हो रही हैं। भाषा सहज, सरल और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रही है। बच्चा सबसे पहले माँ से संवाद स्थापित करता है। इसलिए उसकी बोली मातृभाषा कहलाती है।

भारत में लगभग 1652 बोलियाँ हैं। इनमें से 22 संविधान स्वीकृत भाषाएँ हैं। इनमें से भी सन्थाली और बोडो आदिवासियों की भाषाएँ हैं। शेष भाषाएँ राज्य की प्रभुत्ववादी भाषाएँ हैं। इसे स्पष्ट कर के देखें। देश में सिन्ध नामक कोई राज्य नहीं है। पर सिन्धी बड़ी संख्या में राजनीति, व्यवसाय, उद्योग और बौद्धिक क्षेत्र में हैं। नेपाली पूरे देश में फैले हैं। कोंकणी की अपने राज्य में सबल राजनीतिक पकड़ है। आदिवासियों के छोटे-बड़े समूह हैं। भील पूरे देश में फैले हैं। आबादी सबसे ज्यादा है, पर भीली भाषा बाहर है। कभी गोंडवाना के गोंडों की विशेष पहचान थी। उनकी भाषा द्रविड़ भाषा परिवार में वर्गीकृत थी। परन्तु आज वे गोंड और राजगोंड में बट गये हैं। आज उनकी भाषा आर्यभाषा परिवार की हो गयी है। शेष आदिवासी और उनकी भाषाए हाशिये पर हैं। कई आदिवासी भाषाएँ लुप्त हो गयीं। कईं लुप्त होने के कगार पर हैं।

भारत में भाषाएँ चार परिवारों में वर्गीकृत हैं। इन्हीं परिवारों में आदिवासियों की भाषाएँ

वर्गीकृत हैं -

1. आस्ट्रोएशियाटिक परिवार-सन्थाली, मुंडारी, हो, खड़िया, आदि।
2. भारत-आर्य परिवार-नागपुरी, खोरठा, गोंडी, ओड़िया, बांग्ला, भीली आदि।
3. तिब्बती-बर्मी परिवार - पूर्वोत्तर भारत की भाषाएँ
4. द्रविड़ परिवार - तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, कुई, कोंकणी आदि।

आदिवासियों की जो भाषाएँ आज तक प्रयोग में आ रही हैं वे उनकी वंशावलियाँ हैं। इनके कारण देश और राज्य की संस्कृति बहुरंगी बनी हुई है। झारखंड राज्य में आर्यभाषा, द्रविड़ और आग्नेय भाषा (आस्ट्रोएशियाटिक) परिवार की भाषाएँ जीवन्त हैं। 1980 ई. से यहाँ - आर्य भाषा परिवार की नागपुरी, खोरठा, कुरमाली और पंचपरगनिया, आग्नेय भाषा परिवार की सन्ताली, मुंडारी, हो और खड़िया तथा द्रविड़ भाषा परिवार की कुड़ुख (उरांव) भाषा की पढ़ाई होने लगी है। इन सभी भाषाओं का प्राथमिक व्याकरण उपलब्ध है। भाषा-विज्ञान पर लगातार शोध हो रहे हैं।

साहित्य का विकास - ऊपर वर्णित भाषाओं का लोक साहित्य अति समृद्ध है। अँग्रेज शासकों और ईसाई मिशनरियों ने ने लोक साहित्य के माध्यम से उनकी भाषाएँ सीखीं। उन्हें विस्तार दिया और उपयोग किया व्याकरण और शब्दकोश तैयार किया मुंडारी में फादर हॉफमैन ने इनसाइक्लोपीडिया मुण्डारिका के उन्नीस वॉल्यूम प्रकाशित किये। इससे पहले भारतीय शासकों द्वारा ये भाषाएँ बिल्कुल उपेक्षित थीं।

साहित्य का सृजन उपाधि प्राप्त विद्वानों की तुलना में आम जन अधिक कर रहे हैं। कविता के क्षेत्र को छोड़ कहानियाँ, उपन्यास का लेखन जारी है। नाटक कम लिखे जा रहे हैं। मंचन उससे भी कम है। वैचारिक और ललित निबन्ध की सर्वथा कमी है। आलोचना को तो विधा के रूप में स्वीकार करने की मानसिकता भी नहीं बन पायी है। आकाशवाणी और दूरदर्शन से रिपोर्ताज और नाटकों का मंचन होता है जो कम है।

इन भाषाओं के विकास में चुनौतिया हैं, जिन्हें हम देखेंगे-

1. शब्दकोश - भाषा को निरन्तर आगे बढ़ने के लिए शब्दकोश अत्यन्त आवश्यक है। भाषा गतिमान होती है। अत: मूल शब्दों की व्युत्पत्ति, उच्चारण, अनेकार्थी शब्दों का शब्दकोश बनना बाकी है। बाजार और अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आने से नित नये गृहीत शब्दों की सूची बढ़ रही है। शिक्षा, तकनीकी शिक्षा के शब्द प्राय: अँग्रेजी में होते हैं। शिक्षा के विकास और विस्तार के साथ मातृभाषा और सम्पर्क भाषाओं में नये शब्द आत्मसात किये जा रहे हैं। आत्मसात किये गये शब्दों में कभी अपनी भाषा को प्रकृति के अनुसार थोड़ा परिवर्तन कर अथवा ज्यों का त्यों स्वीकृत कर लिये गये हैं। जब संस्कृत को सभी भाषाओं की जननी माना जाता था तब शब्दकोश निर्माण में आरम्भ में शब्द व्युत्पत्ति में शास्त्रों में जड़ ढूंढ़ा जाता था। परन्तु भाषा लोक संस्कृति से जुड़ी होने के कारण यह पाया

गया कि संस्कृत के समानान्तर लोक भाषाएँ चल रही थीं और लोक भाषा के शब्द भी संस्कृत को प्रभावित कर रहे थे। अत: शब्दकोश में इन शब्दों का शामिल किया जाना आवश्यक हो गया।

स्वतन्त्रता से पहले बड़ी संख्या में लोगों का इधर-उधर कुली-मजदूर के रूप में प्रवास हुआ। उन कुलियों की भाषाओं को और नियोजित कर्ताओं की मदद के लिए शब्द संग्रह और वाक्य संग्रह के स्तर पर शब्दकोश का रूप दिया गया है। मुगल काल में विदेशी यात्रियों ने कुछ आदिवासी समूहों की यहाँ-वहाँ चर्चा की है जो सूचकों के पूर्वाग्रह के कारण निम्न स्तरीय मान लिया गया अँग्रेजी हुकूमत के समय ग्रियर्सन, डाल्टन, बरो आदि ने जनजातीय भाषाओं, जातियों के शब्द संग्रह कुछ व्यापक स्तर पर तैयार किये। ईसाई मिशनरियों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।[1] 1940 ईस्वी तक 18 जनजातीय भाषाओं का शब्दकोश तैयार कर लिया गया. 1960 ई. के बाद विभिन्न एजेंसियों का ध्यान इस ओर गया और अन्य 50 जनजातीय भाषाओं का शब्दकोश तैयार किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय भाषा संस्थान मैसूर, नागालैंड भाषा परिषद, मध्यप्रदेश जनजातीय शोध परिषद ने मिलकर शब्दकोश तैयार किया जैसे-जैसे कार्य बढ़ा, काम अधिक तुलनात्मक होता गया क्योंकि प्राचीन कबीलाई संगठन तेजी से सामयिक परिवर्तन में प्रभावित होने लगे। उनकी भाषाएँ भी सम्पर्क सूत्रों के प्रभाव से रूप परिवर्तन करने लगीं। उदाहरण स्वरूप झारखंड की आस्ट्रोएशियाटिक भाषाओं को देखें। वे पहले योगात्मक थीं अब अयोगात्मक बन रही है।

इस कारण पीपल्स ऑफ इंडिया सर्वे (के.एस. सिंह एंड मनोहरन 1998) ने कहा कि कोई भी भाषा विशुद्ध रूप से जनजातीय भाषा नहीं रह गयी है। विभागों में इस शब्दकोश की आवश्यकता बहुत बढ़ गयी है। अभी यहाँ गणेश मुर्मू ही पाँच जनजातीय भाषाओं का शब्दकोश तैयार करने में लगे हैं। खड़िया-अँग्रेजी में फादर डॉ. निकोलस टेटे और तेलेस्फोर इन्दवार ने खड़िया-असमिया-अँग्रेजी शब्दकोश तैयार किया है। मुंडारी में मनसिद्ध मुंडू और उरांव (कुडुख) में ब्लैज. सी. ने अँग्रेजी-उरांव शब्दकोश तैयार किया है।

2. तुलनात्मक अध्ययन - भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आज के सन्दर्भ में बहुत बढ़ गया है। झारखंड में फा. मथियस डुंगडुंग ने अँग्रेजी-खड़िया का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इस अध्ययन का लाभ यह है कि भाषा विस्तार को सीमा, पहचान और खुलती दिशाओं की पहचान मिलती है और भाषा के विकास की उम्मीदें बढ़ती हैं। पर श्रमसाध्य होने के कारण यहाँ के शोधार्थी इस ओर कम आकर्षित होते हैं।

बहुभाषिक होना कई अर्थों में लाभकारी है। आदिवासियों के लिए यह आम धारणा बनी हुई है कि वे सिर्फ अपनी भाषा में संवाद करते हैं। जबकि शिक्षा के क्षेत्र में राज्य में प्रभुत्वकारी भाषाएँ शिक्षा का माध्यम बनती हैं। गांधीजी सहित शिक्षा के लिए बने सारे

आयोगों ने सिफारिश की कि आदिवासियों की शिक्षा का प्रारम्भ उनकी मातृभाषा में हो। फिर क्रमश: प्रशासनिक संचार और व्यावहारिक (बाजार) भाषाओं की शिक्षा दी जाए। इसे ब्रिज कोर्स कहा गया आज के विद्यालयों में यही त्रिभाषा फार्मूला अपनाया जा रहा है।

आदिवासी भाषाओं के साथ त्रिभाषा नीति के हश्र पर थोड़ा कहना है कि केन्द्र ने राष्ट्रीय शिक्षा एवं शोध परिषद का गठन किया आदिवासी बच्चों के लिए प्राथमिक से लेकर सम्पूर्ण भाषा शिक्षण तक की पाण्डुलिपियाँ तैयार की गयीं, करोड़ों की लागत पर। परन्तु पुस्तक प्रकाशन शून्य रहा। वितरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता। राज्य प्रशासन ने पुस्तकें प्रकाशित की। गोदामों में भंडारण के पश्चात दीमकों के हवाले कर दी गयीं या कबाड़ियों को बेच दी गयीं। महेन्द्र राजा जैन कहते हैं - ''भाषा के प्रयोग या पसन्द-नापसन्द की एक धुंधली सी तस्वीर उभरती है। इससे पता चलता है कि शिक्षित-अशिक्षित तथा गाँव या शहर के सभी वर्गों के लोग घरों में प्राय: अपनी मातृभाषा बोलना ही पसन्द करते हैं तथा औपचारिक अवसरों पर वे हिन्दी, मराठी, तमिल, गुजराती, कन्नड़ आदि भाषाओं का प्रयोग करते हैं।[2] शिक्षा में व्यवस्था की इस धांधली से आदिवासी बच्चों को बहुभाषिकता में प्रवीण करना असफल हो गया है।

आदिवासी ग्रामीण क्षेत्रों में भी आज अँग्रेजी माध्यम के विद्यालय खुल गये हैं। इन विद्यालयों में अधकचरे अँग्रेजीदां शिक्षिक हैं। पर सचमुच के पथ प्रदर्शकों के अभाव के कारण बच्चे अपनी भाषा तो खोते ही जा रहे हैं अन्य भाषाओं में भी दक्षता नहीं प्राप्त कर रहे हैं। भाषाओं में दक्षता होने के लिए भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन अत्यावश्यक है। आज की पीढ़ी यदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करती है तो वह आनेवाली पीढ़ियों के लिए बहुभाषी होने का द्वार खोल देती है।

पूँजीवादी व्यवस्था में औद्योगिकीकरण के कारण आदिवासियों की जमीन, संस्कृति और चेतना का क्षरण हो रहा है। भाषाओं के ज्ञाता होने पर लूट की नीतियों की भाषा वे समझ पाएँगे और लोगों को समझा पाएँगे और लोग समझने के बाद नयी नीतियाँ बनाने में भागीदारी निभाएँगे। परन्तु सत्ता ऐसा करने नहीं देगी। बलराज साहनी कहते हैं - ''हिन्दुस्तान के लोग भाषा, संस्कृति इन कलात्मक भावनाओं के लिहाज से अपरिष्कृत और पिछड़े हुए हैं। ये सब सुनकर हमें बुरा लगता और हम गुस्सा भी हो जाते हैं पर अन्दर से हम ये बात मानने को मजबूर थे।''[3] अर्थात आदिवासी आज भी भाषा के कारण गुलामों की स्थिति में हैं।

आजादी और गुलामी का फर्क बताते हुए एक उदाहरण देते हैं जो अविभाजित भारत का है कि वे एक बार सपरिवार रावलपिंडी से कश्मीर जा रहे थे। रात में बारिश हुई और पहाड़ का एक हिस्सा सड़क पर टूट कर गिर गया जिसके कारण सड़क बन्द हो गयी। विहान होते ही दोनों ओर मोटरों की लम्बी कतार लग गयी। पीडब्ल्यूडी के कर्मचारियों ने अथक

परिश्रम कर सड़क मरम्मत की। रास्ता खुलने का ऐलान हुआ। परन्तु रास्ता कच्चा था और खतरनाक भी। एक तरफ पहाड़ था, दूसरी तरफ झेलम का दरिया आधे घंटे तक दोनों ओर सन्नाटा रहा। तभी एक स्पोर्ट्स कार में एक अँग्रेज युवक आया उसने बलराज से पूछा ''क्या हुआ है?'' सारी बातें सुनकर वह जोर से हँसा और हार्न बजाते हुए निधड़क कार चलाते हुए आगे बढ़ गया देखते-देखते नजारा बदल गया पहले, मैं पहले मैं में फिर भगदड़ मच गयी। यह उदाहरण है एक आजाद देश और गुलाम देश में पले-बढ़े आदमी के फर्क का। आजाद आदमी अपने अन्दर सोचने, फैसला करने और फैसले पर अमल करने का निर्णय लेता है। गुलाम आदमी दिलेरी खो देता है।[4] वह नक्काल होता है। भाषा के मामले में आदिवासी आज भी नक्काल की स्थिति में हैं। गैर आदिवासी जो बताता या दिखाता है उसे अन्दर से समेट लेते हैं। आदिवासी भाषाओं का क्षरण और बाजारी भाषाओं की स्वीकृति के कारण बहुत सारी भाषाएँ लुप्त हो गयी हैं या लुप्त होने की कगार पर हैं। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से समानता और उनका आपसी सम्बन्ध मजबूती से उजागर होगा। जैसे -

हिन्दी	मुंडारी	सन्ताली	खड़िया
पेड़	दरू	दारे	दरू
आगे	अयुर	अयुर	अंजोर
पानी	दः	दाक्	डाः
सिर	भोः	बोहोक्	बोकोब
शराबी	बुलं	बुलं	बुल

3. अनुवाद - कालजन्य परिवर्तन के कारण बहुत सारे शब्दों को आदिवासियों ने जस के तस या अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार निर्मित किया है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। उसमें स्कूल के लिए विद्यालय शब्द है। इसके बावजूद आदिवासियों ने 'इसकुल' शब्द अपनाया है। कहने का तात्पर्य यह है कि विदेशी धर्म प्रचारकों ने आदिवासियों के बीच धर्म-प्रचार के लिए हिन्दी को चुना। उनके लोक साहित्य को हिन्दी में अनूदित कर छापा। इसके दो लाभ हुए - धर्म प्रचारकों ने आदिवासियों की भाषा सीखी और आदिवासी हिन्दी सीख पाये। ''इन्होंने हिन्दी भाषा के प्रति असीम रुचि प्रदर्शित कर उसे सीखने और बोलने का भरसक प्रयत्न किया''[5]

आदिवासियों की भाषाओं को उनके लोक साहित्य को मिशनरियों ने देवनागरी में लिपिबद्ध किया और अँग्रेजी में अनुवाद कर देशान्तर तक पहुँचाया फॉ. कामिल बुल्के ने पूरे एशिया में रामकथा पर शोध किया और आदिवासी जगत को भी ज्ञान के क्षेत्र में प्रभावित किया कृष्णचन्द्र टुडू और मेरी कहानी हिन्दी के माध्यम से तेलुगु तक पहुँच कर तेलुगु में अनूदित हुईं। साहित्य अकादेमी के सहयोग से कई हिन्दी की सामग्रिया सन्ताली

में आ रही हैं जिनमें भारत का संविधान भी है।

अनुवाद में अन्य आदिवासी भाषाएँ पीछे हैं। यद्यपि ''कुड़ुख और तमिल का तुलनात्मक अध्ययन पर काम चल रहा है, साहित्य का क्षेत्र अभी अछूता है। मैंने सन् 1980 में प्रेमचन्द की दस कहानियों का खड़िया में अनुवाद किया आदिवासी भाषा में यह प्रेमचन्द की अनूदित कहानियों की एकमात्र पुस्तक है। इसे पूर्वी क्षेत्र केन्द्रीय राजभाषा विभाग ने पुरस्कृत किया।

अनुवाद साहित्यिक विकास और वैश्विक मानव इतिहास और संस्कृति के ज्ञान के लिए अत्यावश्यक है। इस दिशा में हम आदिवासी काफी पीछे हैं। पर जैसे-जैसे आदिवासी अपने घेरों के बाहर आ रहे हैं उनकी सोच में बदलाव भी आ रहा है। सन्ताली भाषा अनुवाद के क्षेत्र में अगुवाई कर रहा है।

4. लिपि - आदिवासी भाषाओं के लेखन में चुनौती है। स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता प्रेमी आदिवासी किसी की अधीनता स्वीकारने के विरुद्ध उस सत्ता को ललकारते रहे हैं। ग्राम आधारित सूचना देने के लिए लोटे में आम की पत्ती डाल कर घुमाना होता था। हाट में नगरची नगाड़ा पीट कर हँकवा (सूचना) देता था। युद्ध जैसी जटिल स्थिति में खास धुन में नगाड़ा पीट कर पहाड़ों, दूर के गाँवों में बसे लोगों को सूचना दी जाती थी। आज वृहत स्तर पर लेखन हो रहा है। आदिवासी भाषाओं को देशी-विदेशी विद्वानों ने रोमन लिपि से लिखा जो उन्हें सुविधा जनक लगा। पर शीघ्र ही विदेशी विद्वानों ने हिन्दी सीखकर देवनागरी लिपि का प्रयोग आरम्भ किया मेरे पिताजी ने भी दो महिला मिशनरियों को हिन्दी और देवनागरी लिपि पढ़ायी थी जिसकी फीस मासिक पाँच रुपये मिलती थी। इस तरह आरम्भ में सिर्फ सन्ताली में रोमन लिपि और आगे चलकर सभी आदिवासी भाषाओं में देवनागरी प्रयुक्त हुई।

आदिवासी अपनी भाषाओं को लेकर बहुत भावुक हैं। वे उच्चारण की विशुद्धता को लेकर कट्टरपन की हद तक चले गये हैं। बलराज साहनी ने लाहौर (पाकिस्तान) में पढ़ाई की। शान्तिनिकेतन बंगाल में पढ़ाया और मुम्बई में फिल्मों में काम किया, वे कहते हैं ''कोई भी भाषा किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। मेरी मातृभाषा पंजाबी के लिए दो लिपियाँ कबूल की गयी हैं। हिन्दुस्तान में गुरुमुखी और पाकिस्तान में फारसी। दो लिपियों में लिखी जाने पर भी वह भाषा तो एक ही रहती हैं पंजाबी।''[6] और अब पूरे भारत में, ट्रकों पर देवनागरी में ''जय माता दी' को आप क्या कहेंगे? आजादी के बाद तक देवनागरी लिपि आदिवासी भाषाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा। अब आदिवासी भाषाएँ अस्मिता के सवाल पर नयी लिपियाँ गढ़ रही हैं। 'पहचान' आज की जरूरत है। पर लिपियों के द्वारा पहचान बनाने की बनिस्पत सभी आदिवासियों को मजबूती से एकता के

सूत्र में बँधे रहना अधिक आवश्यक है। लिपियों का होना बुरा नहीं है। परन्तु फिलहाल जिन परिस्थितियों से आदिवासी गुजर रहे हैं उसमें लिपि के कारण वे एक दूसरे से दूर हो रहे हैं। आपसी वैचारिक विमर्श नहीं हो पा रहा है। जब दूरी बन रही है तब सांगठिनक मजबूती को ध्वस्त होने में देर नहीं लगेगी। इसलिए भाषाओं के प्रयोग में नयी लिपियों के प्रयोग पर बल और प्रचलित लिपियों के प्रयोग पर बाधा न डालना ही सामयिक है। जब जिसे चाहें स्वीकार करें। उन्हें फैसला लेने की आजादी दी जानी चाहिए।

5. शिक्षा पद्धति - आज गाँव के लड़के-लड़कियाँ शिक्षा पाने के बाद गाँव का हिस्सा नहीं रहना चाहते हैं। वे गाँव से भागने की फिराक में रहते हैं। उनकी वेश-भूषा, सोच बदल जाती है। वे स्वयं को श्रेष्ठ समझ रहे हैं। कारण आजादी के सत्तर सालों के बाद भी हम मैकाले के शिक्षण-प्रणाली को गले लगाये हुए हैं। आदिवासियों के बीच मिशनरियों ने महात्मा गांधी की नयी तालीम का अनुसरण किया ''उनकी अधिकतर शैक्षिक संस्थाएँ कताई, बुनाई, सिलाई के अतिरिक्त खेती-गृहस्थी तथा काष्ठ-सम्बन्धी प्रशिक्षण का उत्तम प्रबन्ध करती हैं। ...शिक्षा के कारण ही इनके मानसिक क्षितिज का अत्यधिक विस्तार हुआ और वे विकसित जातियों के साथ समतुल्यता कर पाने में पूरी तरह समर्थ हुईं।'' यद्यपि सामान्य शिक्षा से आज यह प्रणाली अलग हो गयी है। क्योंकि अब उनके विद्यालयों में गैर आदिवासी बच्चों का आधिक्य है। अभिभावक और प्रशासन का दबाव भी ऐसा करने नहीं देता है।

सभी शिक्षा आयोगों ने आदिवासियों को उनकी मातृभाषा में प्रारम्भिक शिक्षा देने की सिफारिश की। पर झारखंड में पहले 1980 में एम.ए. की पढ़ाई शुरू हुई और अब विद्यालयों की ओर जा रहे हैं। यह वैसा ही है जैसा पिंजड़े के पंछी को आजाद तब किया गया जब आसमान में उड़ने की सोच ही खत्म हो गयी। जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग से उत्तीर्ण विद्यार्थी भी अब सिर्फ नौकरी चाहते हैं और वह भी सिर्फ प्राध्यापक की। अत: जनजातीय भाषाओं में उपाधि पाने के बाद भी अपने अस्तित्व से वाकिफ होकर सोचना समझना सीखना बाकी है। इन्हें अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं तलाशना होगा। इसके लिए पारम्परिक सोच से हटकर नयी सोच को लाना होगा। पारम्परिक सोच को त्याग पाना आदिवासियों के लिए सब से बड़ी चुनौती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1. गवेषणा - अंक 93 जनवरी-मार्च 2009, एम. श्रीनाथन, पृष्ठ-29
2. गवेषणा - बहुभाषिकता: नये आयाम, अंक-95/96 जुलाई-दिसम्बर, पृष्ठ 1 - 7
3. आजादी तो मिल गयी है पर हमें पता नहीं है कि उसका क्या करना है - बलराज साहनी पेक इन्स्टीच्युट फॉर सोशल डेमोक्रेसी-मुनरिका, नयी दिल्ली - 110067

4. हिन्दी शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में ईसाई मिशनिरयों का योग - डॉ. नागेश्वर सिंह, पृष्ठ-143
5. आजादी तो मिल गयी- बलराज साहनी - पृष्ठ - 15
6. हिन्दी शिक्षा और साहित्य - प्रो. नागेश्वर सिंह, पृष्ठ-149

सम्पर्कः मो. - 7631000542

गांधी की राष्ट्र-राज्य भाषा नीति और राजभाषा

डॉ. दयाशंकर

आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के दौरान एक भारतीय भाषा अवश्य ऐसी रही है जो उनके बीच पुल जैसा काम करती थी। ऐसी एक मात्र भाषा के रूप में हिंदी या हिंदुस्तानी का नाम देशी-विदेशी विद्वान बेखटके से लेते हैं। आधुनिक काल के पहले हिंदी और हिंदुस्तानी दो अलग भाषाएँ नहीं है, बल्कि एक ही भाषा के दो नाम थे। ''भाषा के सन्दर्भ में प्रारम्भ में यह 'हिंदुस्तान' शब्द 'हिंदी' या 'हिंदवी' का पयार्य था, किन्तु बाद में 18वीं सदी में, इसका प्रयोग मुसलमानों की भाषा 'केवल दक्षिण भारत के या उत्तरी-दक्षिणी दोनों के लिए' होने लगा। इस रूप में यह शब्द 'उर्दू' का पर्याय हो गया। 19वीं शताब्दी में यह बात स्पष्टत: दिखाई पड़ती है। गार्सां द तासी '19वीं सदी मध्य' के इतिहास का नाम 'इस्त्वार द ला लित्येतूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' से इस बात का संकेत मिलता है। इसमें 'ऐंदुई' तो 'हिंदुई' है और 'ऐंदुस्तानी' अर्थात् 'हिंदुस्तानी' उर्दू। हेनरी मूल तथा बर्नेल ने अपने प्रसिद्ध कोश 'हॉब्सन-जाब्सन' '1886' में स्पष्टत: इसे उर्दू कहा है।'' (हिंदी भाषा, डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ 94) वर्ना गार्सां द तासी के एक शताब्दी पहले सन् 1714 में पादरी जे.जे. केटलीट ने 'हिंदुस्तानी ग्रामर' लिखा था, जो हिंदी भाषा का व्याकरण ग्रन्थ है। इस प्रकार तासी के पहले हिंदी और हिंदुस्तानी शब्द एक ही भाषा के लिए विकल्प रूप में प्रयुक्त होते थे।

19वीं शताब्दी के पूर्व भारत के हिंदीतर प्रान्तों में ऐसे अनेक साहित्यकार मिलते हैं, जो अपनी मातृभाषा के साथ शौकिया या प्रायोगिक स्तर पर ही सही, लेकिन हिंदी में कुछ न कुछ लिखते हैं। मैं जिस गुजरात राज्य का निवासी हूँ, यदि आधुनिक काल के पूर्व वहाँ लिखे साहित्य पर नज़र डाली जाए तो ऐसे साहित्यकारों की संख्या काफी है जो गुजराती के साथ स्वेच्छा से हिंदी में लिखते थे। अखो, घनानन्द, ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, प्रेमसखी, दयाराम, प्राणनाथ एवं निर्गुण सम्प्रदाय के अनेक कवि ऐसे ही थे। इनके हिंदी में लिखने के पीछे कोई राजकीय दबाव, प्रोत्साहन, पुरस्कार या किसी प्रकार का निजी स्वार्थ न था। गुजरात के शाहबुरहानुद्दीन जानम, मुहम्मद अमीन गुजराती, मिस्कीन गुजराती, रहमत, उजलत,

आदि सूफी कवि 'गूजरी' में लिखते थे और गूजरी उस समय प्रचलित खड़ी बोली का गुजराती संस्करण थी, यद्यपि उसकी लिपि फारसी थी। यह बड़े सुखद आश्चर्य की बात है कि मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का प्रसार दक्षिण से उत्तर, पश्चिम और पूरब की ओर हुआ, जबकि मध्यदेशीय हिंदी का प्रसार विशेष रूप से दक्षिण, पश्चिम और पूरब की ओर हुआ। इससे स्पष्ट है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी आन्दोलन और उसी समय की किसी सबसे व्यापक भाषा के विकास और प्रसार की दिशा एक हो। भक्ति आन्दोलन को यदि दक्षिण से उत्तर की ओर लाने का श्रेय संस्कृतज्ञ हिंदू आचार्यों को है तो खड़ीबोली हिंदी, ब्रजी हिंदी को उत्तर से दक्षिण तक ले जाने का श्रेय नाथों, सूफियों, निर्गुणिया सन्तों और कृष्ण भक्त कवियों को है।

आधुनिक काल के पहले महाराष्ट्र से लेकर दक्कन तक भी यही हाल था। महाराष्ट्र प्रान्त के नामदेव, तुकाराम, देवनाथ महराज, बहिणाबाई, रामदास, एकनाथ आदि की रचनाएँ एक ओर उनकी मातृभाषा मराठी में है तो दूसरी ओर उनकी कुछ रचनाएँ ब्रज या ब्रजमिश्रित खड़ी बोली में है। दक्कन 'बरार, अहमदनगर, बीदर, बीजापुर, गोलकुंडा, हैदराबाद, औरंगाबाद' क्षेत्र के सारे कवि दक्कनी हिंदी में रचनाएँ करते थे। निजामी, शेख अशरफ, शाह मीरांजी, इब्राहीम आदिलशाह 'द्वितीय', अली आदिलशाह 'द्वितीय', नुसरती, सय्यद मीरां हाशमी, मुहम्मद कुलीकुतुबशाह, मुल्ला बजही, गवासी, वली और शाह सिराज आदि की रचनाओं की लिपि फारसी होने के बावजूद उनका भाषाई ढाँचा खड़ी बोली हिंदी का है। इस प्रकार आधुनिक काल से पहले ही हिंदी सम्पर्क भाषा के अलावा काव्यभाषा के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में सबसे अधिक व्यापक और स्वीकृत भाषा बन चुकी थी।

सन् 1857 में उत्तर भारत के हिंदुओं और मुसलमानों ने मिलजुल कर अंग्रेजों के खिलाफ प्रथम स्वाधीनता संग्राम लड़ा था। लिपिभेद के बावजूद इस पूरे संग्राम की कार्यवाही की भाषा हिंदी या हिंदुस्तानी थी। 1857 के बाद विक्टोरिया रानी के शासन काल में अंग्रेजों ने हिंदू और मुसलमानों के बीच फूट डालकर अपना उल्लू सीधा करने की योजना बनाई। उनकी योजना में भाषा का मसला भी शामिल था और इसे उन्होंने खूब हवा भी दी। अंग्रेजों ने हिंदू-मुसलमानों को अलग रखने की मानसिकता से मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति अपनाई। हिंदी और उर्दू के बीच भाषाई भेद का कारण अंग्रेजी सरकार की भेदभाव वाली भाषाई नीति थी जिसके चलते उन्होंने 'हिंदुस्तानी' को उर्दू का पर्याय मानते हुए उसे मुसलमानों की भाषा के रूप में प्रचारित किया और हिंदी को हिंदुओं की भाषा कहना शुरू किया। उन्होंने सन् 1900 के पहले कचहरियों की भाषा फारसी लिपि वाली उर्दू मान्य किया। दरअसल अंग्रेजों की भाषाई कूटनीति वास्तविकता के उलट की। इन दोनों के नाम भले अलग-अगल रहे हों, लेकिन ये दो कौमों की अलग भाषाएँ थी। वे हिंदू जो मुस्लिम

शासन की सेवा में थे वे फारसी लिपि में हिंदी का इस्तेमाल करते थे और वे मुसलमान जो हिंदू बहुल आबादी के बीच थे, वे लिखते भले फारसी लिपि में रहे हों, लेकिन उनके बोलने-पढ़ने की भाषा हिंदी ही थी। हिंदी प्रदेशों से सीधे ताल्लुक रखनेवाले अमीर खुसरों, कबीर, रहीम, रज्जब, रसखान, आलम और यहाँ के सारे सूफी कवि इसके प्रमाण हैं आम हिंदू-मुसलमानों की भाषा में कोई बुनियादी भेद न था।

अंग्रेजी सरकार की इस भेदभाव वाली मानसिकता और नीति के खिलाफ पं. मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में हिंदी के समर्थक हिंदुओं को कड़ा संघर्ष करना पड़ा। नागरी प्रचारिणी सभा-काशी '1893', हिंदी साहित्य सम्मेलन-प्रयाग 'सन् 1910' की स्थापना का मुख्य उद्देश्य हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि का संरक्षण और सम्वर्द्धन था। हिंदी और हिंदुस्तानी के विवाद का प्रश्न हिंदू-मुस्लिम बुद्धिजीवियों के साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एक गाँठ की तरह था। सन् 1916 में यद्यपि दोनों राजनीतिक पार्टियों का विलय हो गया था, लेकिन यह गाँठ सुलझी नहीं थी। महात्मा गांधी जब दक्षिण अफ्रीका में थे तो राष्ट्र भाषा के रूप में हिंदी की बात करते थे और जब वहाँ से लौटकर कांग्रेस पार्टी में शामिल हुए तब भी वे हिंदी की बात करते थे। उनकी दृष्टि में यह हिंदी न पंडितों की भाषा थी और न मौलवियों की, बल्कि वह आम हिंदू-मुसलमानों के बोलचाल की भाषा थी। वह संस्कृत और फारसी शब्दावली की बहुलता से परे बातचीत में सबसे अधिक व्यवस्थित ठेठ हिंदी थी। यही कारण था कि दक्षिण अफ्रीका में रहने के दौरान भी वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अंग्रेजी में कामकाज के कठोर आलोचक थे। उन्होंने 'हिंद स्वराज्य' पुस्तक में लिखा है कि ''यह कितने दु:ख की बात है कि हम स्वराज्य की बात भी पराई भाषा में करते हैं।'' (हिंद स्वराज्य, पृष्ठ 74) हिंदुस्तान आने के बाद महात्मा गांधी कांग्रेस पार्टी से जुड़े, लेकिन वे उसकी भाषागत नीतियों के हमेशा आलोचक बने रहे। कांग्रेस पार्टी की बागडोर सम्भालने के पहले ही 29 मार्च 1918 को इंदौर में हिंदी साहित्य सम्मेलन-प्रयाग के अधिवेशन के भाषण में उन्होंने बेलाग कहा कि 'जब तक हम हिंदी को राष्ट्रीय और प्रान्तीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देते, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं।'' असल में गांधीजी कांग्रेस पार्टी को अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की जमात के दायरे को बढ़ाकर आम हिंदुस्तानी जनता तक ले जाना चाहते थे। इस प्रकार वे हिंदी और प्रान्तीय भाषाओं की कांग्रेस पार्टी में स्वीकृति के माध्यम से उसे ताकतवर और व्यापक बनाना चाहते थे। कांग्रेस की बागडोर सम्भालने के दौरान 'सन् 1920 के बाद' स्वराज्य, स्वदेशी, दलितोद्धार, महिलोद्धार के साथ स्वभाषा 'राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषा' का सवाल उनके राजनीति-सामाजिक कार्यक्रम का अभिन्न हिस्सा बन गया। उन्होंने स्वयं दक्षिण भारत में राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार की अगुआई की।

महात्मा गांधी भारत का शासन अंग्रेजी में चलाने और भारतीयों को अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने के परम विरोधी थे। वे भारतीयों पर जबरदस्ती अंग्रेजी भाषा लादने को गुलामी की निशानी और उनकी मौलिकता का हनन मानते थे। उनका मानना था कि हर हालत में बच्चों की शिक्षा उनकी मातृभाषा में दी जानी चाहिए और इसके साथ उन्हें राष्ट्रभाषा हिंदी का ही ज्ञान कराया जाना चाहिए। वे इस बात के पक्षधर थे कि राष्ट्रभाषा सीखने वाले को देवनागरी या फारसी लिपि मे लिखने की आजादी होनी चाहिए। गांधीजी राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओं को एक दूसरे के पूरक और सहयोगी रूप में देखते थे। उनकी दृष्टि में दोनों की अपनी-अपनी जगह पर उपयोगिता है। राष्ट्रीय स्तर के कामकाज के लिए हिंदी का उपयोग होना चाहिए और प्रान्तीय स्तर के कामकाज-शिक्षा, कानून व्यवस्था, न्याय व्यवस्था में प्रान्तीय भाषाओं को इस्तेमाल होना चाहिए। कांग्रेस की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के कामकाज में वे हिंदी और प्रान्तीय कार्यकारिणी के कामकाज में वे प्रान्तीय भाषाओं के उपयोग के पक्षधर थे। वे भारत के किसी राज्य के पुनर्गठन का आधार भी उनकी प्रान्तीय भाषा को मानते थे। इस प्रकार गांधीजी की दृष्टि में राष्ट्रभाषा हिंदी और प्रान्तीय भाषा दोनों का महत्व था। दोनों में टकराव के बदले वे सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध के पक्षधर थे। किशोर मसरूवाला उनकी राष्ट्रभाषा सम्बन्धी दृष्टि के बारे में लिखते हैं कि ''राष्ट्रभाषा का चयन प्रान्तीय भाषाओं को गौण बनाने के लिए नहीं, बल्कि समूचे देश के व्यवहार के लिए है। राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्थान नये सिरे से खड़ा नहीं किया गया है, बल्कि जो व्यवहार में है उसी को स्वीकार किया गया है।'' (गांधी विचार दोहन, पृष्ठ 174) महात्मा गांधी चाहते थे कि राष्ट्रीय स्तर पर कानून और न्याय व्यवस्था हिंदी में और प्रान्तीय स्तर पर प्रान्तीय भाषाओं में चलायी जानी चाहिए। यहाँ तक कि एक राज्य से दूसरे राज्य के बीच पत्राचार की भाषा के रूप में वे राष्ट्रभाषा हिंदी के समर्थक थे।

महात्मा गांधी राष्ट्रभाषा हिंदी और दक्षिण भारत की तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम आदि प्रान्तीय भाषाओं के बीच एक स्वस्थ और सौाहर्दपूर्ण रिश्ता देखते हैं। इसीलिए वे प्रत्येक उत्तरभारतीय को कम से कम एक दक्षिण भारत की भाषा सीखने की सलाह देते हैं और हर दक्षिण भारतीय को राष्ट्रभाषा हिंदी सीखने की सलाह ही नहीं, बल्कि उन्हें सिखाने और व्यवहार में इस्तेमाल करने के लिए 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना भी करते हैं। दक्षिण भारतीयों के हिंदी सीखने के स्वस्थ लाभ की भी वे बात करते हैं। महात्मा गांधी को लगता था दक्षिण भारतीयों और उत्तर भारतीयों के बीच मानसिक फासले का एक कारण उनके बीच भाषाभेद है। स्वाधीनता आन्दोलन के संघर्ष को अखिल भारतीय स्तर पर मजबूत बनाने का एक कारगर हथियार गांधीजी को उत्तर-दक्षिण भारत की भाषाओं के बीच सौमनस्यपूर्ण और सम्मानजनक सम्बन्ध लगा था। और यह बात गांधीजी के लिए मात्र हवाई नहीं थी। उन्होंने स्वयं इस दिशा में ईमानदारी से पहल भी की थी।

भारत हमेशा से एक बहुभाषी देश रहा है। हमारे संविधान निर्माताओं ने इसका बखूबी खयाल रखा। उन्होंने एक ओर राजभाषा के रूप में हिंदी और उसकी लिपि के तौर पर देवनागरी को मान्यता दी और दूसरी ओर भारत की सभी प्रमुख प्रान्तीय भाषाओं-कश्मीरी, डोगरी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, कोंकणी, कन्नड़ मलयालम, तमिल, तेलगु, उड़िया, बंगाली, असमिया, बोडो, मणिपुरी, संथाली, मैथिली, संस्कृत, सिंधी, उर्दू-को मान्य रखा है। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची भारतीय भाषाओं से सम्बद्ध है। ''अष्टम सूची में शामिल 22 भाषाओं में से अधिकांश भाषाएँ किसी न किसी प्रदेश की राजभाषा हैं, परन्तु कुछ ऐसी भाषाओं को भी इस अनुसूची में सम्मिलित किया गया है जो किसी राज्य की भाषा नहीं है, जैसे-सिंधी, डोगरी, संस्कृत, मैथिली आदि। अंग्रेजी भाषा को अष्टम सूची में नहीं रखा गया है परन्तु नागालैंड, मेघालय जैसे राज्यों में अंग्रेजी को राजभाषा का दर्जा दिया गया है। कुछ राज्यों में वहाँ की राजभाषा के साथ-साथ अंग्रेजी के प्रयोग का भी प्रावधान है, जैसे मणिपुर में मणिपुरी तथा अंग्रेजी, केरल में मलयालम तथा अंग्रेजी के प्रयोग की व्यवस्था है।'' (हिंदी सेवी संस्था कोश-वीरेन्द्र परमार, प्रकाशन-लेखक स्वयं, फरीदाबाद पृष्ठ 29) हमारे संविधान निर्माता चाहते थे कि राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओं की अपनी पहचान कायम रहे और वे भारत की एकता, अखण्डता के साथ अनेकता की रक्षा करते हुए परस्पर और निरन्तर अपना साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास करती रहें। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जो आगे चलकर भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने, ने संविधान लागू करने के दौरान कहा था कि ''आज हम पहली बार अपने संविधान में एक भाषा स्वीकार कर रहे हैं, जो भारत संघ के प्रशासन की भाषा होगी और जिसे समय के अनुसार अपने-आपको ढालना और विकसित करना होगा। हमने अपने देश का राजनीतिक एकीकरण सम्पन्न किया है। राजभाषा हिंदी देश की एकता को कश्मीर से कन्याकुमारी तक अधिक सुदृढ़ बना सकेगी। अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषा को स्थापित करने से हम निश्चय ही और भी एक-दूसरे के निकट आयेंगे।'' (प्रयोजनमूलक हिंदी: संरचना एवं अनुप्रयोग- डॉ. रामप्रकाश, डॉ. दिनेश गुप्त, पृष्ठ 153)

हमारे देश के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और देश के पहले राष्ट्रपति की भावनाएँ राष्ट्रभाषा और राजभाषा हिंदी को लेकर बहुत अच्छी थी, लेकिन व्यावहारिक कठिनाइयाँ और जटिलताएँ राजभाषा में कामकाज के दौरान उठ खड़ी हुई। इसका कारण यह है कि महात्मा गांधी राष्ट्रीय कामकाज के लिए हिंदी और प्रान्तीय स्तर के कामकाज के लिए प्रान्तीय भाषाओं के बीच जितना सीधा-साधा, स्वस्थ सम्बन्ध देखते थे, वह इतना सीधा न था, भारतीय नौकरशाही के संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण रवैये ने उसे जमीनी स्तर पर प्रतिफलित होने नहीं दिया। असल में गांधीजी के राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय भाषा के परिप्रेक्ष्य में आम हिंदुस्तानी जनता थी, जबकि राजभाषा के केन्द्र में वह संघ की हो या राज्य की, सरकारी मशीनरी के कामकाज की सुविधापूर्ण

मानसिकता है।

संविधान सभा में लम्बी बहस के बाद 26 जनवरी 1950 से 'हिंदी' संघ की राजभाषा और उसकी लिपि 'देवनागरी' तो बन गयी, लेकिन भारत के एक बहुभाषी राष्ट्र होने के कारण उसकी आगे की राह कभी आसान नहीं रही। संविधान लागू करने के पहले संविधान सभा के सदस्य हिंदी को सरकारी कामकाज के लिए पूरी तरह सक्षम न मानते हुए इस बात पर एकमत थे कि हिंदी को केन्द्रीय कर्मचारियों पर जल्दबाजी में लादा न जाए, बल्कि धीरे-धीरे उसके लिए माहौल बनाया जाए। उन्होंने 15 वर्ष का समय हिंदी का माहौल बनाने के लिए नियत किया था, लेकिन अब तो लगभग 70 साल का समय गुजर चुका है और हिंदी में कामकाज का पूरा माहौल नहीं बन पाया है। परिणामत: सन् 1965 के बाद भी अंग्रेजी व्यवहारत: राजभाषा की पटरानी बनी हुई है। राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा '3' की उपधारा '1' में यह प्रावधान है कि ''संविधान के आरम्भ से पंद्रह वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अंग्रेजी भाषा नियत दिन '26-1-1965' से (क) संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग में लायी जाती रहेगी जिनके लिए वह उस दिन से ठीक पहले प्रयोग में लायी जाती थी। (ख) संसदीय कार्यव्यवहार में भी 'अंग्रेजी भाषा' प्रयोग में लायी जाती रहेगी।'' (प्रयोजनमूलक हिंदी, पृष्ठ 161) यहाँ तक कि जिन राज्यों की राजभाषा हिंदी नहीं है वे संघ से पत्राचार अंग्रेजी में कर सकेंगे। हिंदी भाषी राज्यों और अन्य राज्यों के बीच पत्राचार यदि हिंदी में किया जाता है तो उसका अंग्रेजी अनुवाद भी साथ में देना होगा।

राजभाषा व्यवहार की इन कठिनाइयों का मतलब कतई यह नहीं है कि सन् 1950 में राजभाषा हिंदी जिस रूप में थी, उसी रूप में अभी भी ठहरी हुई है। एक ओर राष्ट्रपति ने राजभाषा के बारे में प्रदत्त अपने सांविधानिक अधिकारों का इस्तेमाल करते हुए राजभाषा आयोग '1955', राजभाषा संसदीय समिति '1956', राजभाषा अधिनियम '1963', उसका संशोधन '1967', राजभाषा अधिनियम '1976' उसका संशोधन '1987' राजभाषा प्रशिक्षण संस्थान '1985' का गठन किया है, दूसरी ओर संविधान के अनुच्छेद 351 के तहत केन्द्र सरकार 'गृह मन्त्रालय, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, शिक्षा एवं समाज कल्याण मन्त्रालय' ने राजभाषा के विकास और प्रचार-प्रसार के लिए कई कारगर कदम उठाये हैं। केन्द्र सरकार के प्रयास से केन्द्रीय हिंदी प्रशिक्षण संस्थान '1952', केन्द्रीय हिंदी निदेशालय '1960', केन्द्रीय हिंदी संस्थान '1961', हिंदी सलाहकार समिति '1964', केन्द्रीय हिंदी समिति '1967', केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो '1971', राजभाषा विभाग '1974' आदि का गठन हो सका है। इसके साथ केन्द्र सरकार राजभाषा हिंदी में कामकाज को बढ़ावा देने के लिए और कोशिश करती रही है। जैसे कि वैज्ञानिक, तकनीकी विषयों की हिंदी मे लिखी मौलिक पुस्तकों को पुरस्कृत करना,

हिंदी पुस्तकों की खरीद निश्चित करना, पत्र-पत्रिकाओं को हिंदी में प्रकाशित करना और हिंदी में लिखे पत्रों और शोधपत्रों को बढ़ावा देना, सेवा के दौरान केन्द्रीय कर्मचारियों को हिंदी में प्रशिक्षित करना, राजभाषा में सबसे अच्छा काम करने वाली समितियों और व्यक्तियों को पुरस्कृत और प्रोत्साहित करना, द्विभाषी कम्प्यूटरों की खरीद करना और उनमें केन्द्रीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान करना, हिंदी अनुवादकों के लिए अनुवाद प्रशिक्षण की व्यवस्था करना आदि।

राजभाषा अधिनियम 1976, उसका संशोधन 1987 के अनुसार राजभाषा हिंदी में कामकाज करने की दृष्टि से संघ को चार क्षेत्रों में बाँटा गया है। (क) क्षेत्र के अन्तर्गत सारे हिंदी भाषी राज्य हैं जो आपस में और संघ के साथ हिंदी में कामकाज करेंगे। (ख) क्षेत्र में वे राज्य शामिल हैं जिनकी सीमाएँ हिंदी भाषी राज्यों से मिलती हैं। ये आपस में और संघ के साथ हिंदी में कामकाज करेंगे। अंग्रेजी में पत्राचार होने पर अंग्रेजी में जवाब के साथ हिंदी अनुवाद भी देंगे। 'ग' क्षेत्र में वे राज्य आते हैं, जिनकी सीमाएँ 'ख' क्षेत्र से मिलती हैं और हिंदी भाषी क्षेत्र से दूर पड़ते हैं। जैसे, कर्नाटक, केरल, उड़ीसा, बंगाल, असम, पूर्वोत्तर के राज्य आदि। ये आपस में और संघ के साथ अंग्रेजी में कामकाज करेंगे और 'ख' एवं 'ग' क्षेत्र के राज्यों से हिंदी या अंग्रेजी में पत्राचार करेंगे। 'घ' क्षेत्र के राज्यों में लक्षदीप और तमिलनाडु है जो राज्यों और संघ के साथ कामकाज में अंग्रेजी का व्यवहार करेंगे। राष्ट्रभाषा के बारे में महात्मा गांधी की सोच एक सर्वोत्तम आदर्श स्थिति है। राजभाषा हिंदी में काम-काज करने की कठिनाइयाँ व्यावहारिक स्तर पर बहुत जटिल है। यह अन्तर सोचने और करने के बीच का है। फिर भी राजभाषा हिंदी का सरकारी कामकाज में इस्तेमाल का अनुपात निरन्तर बढ़ रहा है। यद्यपि उसकी गति काफी धीमी है। राष्ट्रपति और गृह मन्त्रालय अपनी शक्तियों का उपयोग करते हुए हिंदी में कामकाज को बढ़ावा देने के लिए आदेश के साथ सुविधा भी मुहैया करा रहे हैं।

जहाँ तक राज्यों की राजभाषाओं का प्रश्न है, उनमें काफी भिन्नता है। एक ओर हमारा संविधान उन्हें अपना सरकारी कामकाज अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं में करने की छूट देता है दूसरी ओर अन्य राज्यों के साथ, संघ के साथ हिंदी या अंग्रेजी या दोनों में पत्राचार करने की छूट देता है। इस प्रकार भारतीय संविधान राजभाषा के मुद्दे पर राज्यों की निजता की रक्षा करता है दूसरी ओर संघ की राजभाषा के सम्मान और व्यवहार की अपेक्षा भी रखता है। इस सिलसिले में उसका नजरिया बहुत उदार है। यही कारण है कि वह संघ की राजभाषा को किसी राज्य पर थोपने का समर्थन नहीं करता है। भारत जैसे बहुभाषी राष्ट्र में यही तरीका उचित है। सारे हिंदी भाषी राज्य आपस में और संघ के साथ हिंदी में काम-काज करते हैं। गैर हिंदी भाषी राज्यों में राजभाषा हिंदी के व्यवहार की स्थिति एक जैसी नहीं है, लेकिन वे भी हिंदी के व्यवहार में निरन्तर सहयोग कर रहे हैं। प्रान्तीय भाषाओं के बारे में गांधी जी की राय भी एक आदर्श स्थिति जैसी है। वे सोचते थे कि सभी राज्यों को अपना कामकाज अपनी प्रान्तीय

भाषाओं में करना चाहिए और ज्यादातर राज्य ऐसा कर भी रहे हैं। इसके साथ गांधी जी का विचार यह भी था कि एक राज्य दूसरे राज्य और केन्द्र से पत्राचार हिंदी में ही करे। लेकिन व्यवहारत: अभी तक ऐसा नहीं हो पाया हैं ऐसा होने में अभी काफी समय लगेगा।

राजभाषा हिंदी के व्यवहार की सबसे खराब स्थिति न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में है। गांधीजी चाहते है कि जनता को न्याय उसकी भाषा में मिलना चाहिए। उनका विचार था केन्द्र स्तर के न्यायालय का हिंदी में और प्रान्तीय और जिला स्तर के न्यायालयों को प्रान्तीय भाषाओं में अपना कामकाज चलाना चाहिए। यदि जिला स्तर के न्यायालयों की बात छोड़ दें तो हिंदी भाषी क्षेत्र के उच्च न्यायालय सिर्फहिंदी में अपना कामकाज करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय से लेकर गैरहिंदी भाषी उच्च न्यायालयों में आज भी अंग्रेजी की तूती बोलती है। अभी हाल में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने कहा है कि अंग्रजी में दिये गये निर्णयों का अब हिंदी अनुवाद भी उपलब्ध कराया जायेगा। यह राजभाषा हिंदी के व्यवहार की दिशा में अच्छी पहल है। अभी भी सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में अंग्रजी पाठ को ही प्राधिकृत पाठ माना जाता है। इस प्रकार राजभाषा हिंदी के व्यवहार का सबसे कठिन क्षेत्र भारत की अभिजन वर्चस्व वाली उच्च न्याय व्यवस्था है। इस प्रकार महात्मा गांधी की आदर्श स्थिति वाली राष्ट्रभाषा को सफल और सार्थक राजभाषा की स्थिति तक पहुँचाने के लिए हमें धीरज के साथ काम करते हुए काफी समय तक प्रतीक्षा करनी होगी।

(लेखक हिंदी साहित्य के वरिष्ठ आलोचक हैं।)

सम्पर्क : प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिंदी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर, आणंद, गुजरात
मो.: 9427541364

शब्द संकोचन का शिकार बनती हिंदी

–उमेश चतुर्वेदी

हाल ही में राजधानी दिल्ली से सटे एक कॉलेज में एक मित्र को जाने का मौका मिला। जिस बिल्डिंग के उपरी माले पर स्थित दफ्तर में उन्हें जाना था, उसकी सीढ़ियों पर भारी संख्या में छात्र बैठे हुए थे। छात्रों ने सीढ़ी को ऐसा घेर रखा था कि वहां से चाह कर भी निकलना आसान नहीं था। लिहाजा एक जगह उन्होंने छात्रों से अनुरोध किया। अपना पैर बटोर कर बैठो दोस्त... लेकिन कोई प्रतिक्रिया छात्रों की ओर से नहीं मिली। बल्कि उल्टे उनकी प्रश्नवाचक निगाहें मित्र को घूरती रहीं। दस सेकंड में ही माजरा समझ में आ गया। तब उन्हें छात्रों से अनुरोध करना पड़ा कि अपने पैर समेट लो। राजधानी के नजदीक स्थित कॉलेज के उन छात्रों को बटोरना भले ही समझ में नहीं आया, लेकिन शुक्र है उन्हें समेटना पता था।

शहरी इलाकों में आए दिन हमें ऐसे वाक्यों से दो-चार होना पड़ता है। हाल ही में मशहूर गीतकार प्रसून जोशी ने अपने साथ घटी एक घटना का भी जिक्र किया है। एक फिल्म के गीत की रिकॉर्डिंग के वक्त उन्हें भी कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। उस गीत में उन्होंने एक जगह सट-सटकर बैठने का जिक्र किया है। जोशी को हैरानी तब हुई, जब हिंदी फिल्मी दुनिया के संगीतकार, गायक और वहां मौजूद ज्यादातर साजिंदों को सट-सटकर बैठने का अर्थ ही नहीं समझ आ रहा था। हारकर उन्हें सटना की जगह पास-पास बैठने का प्रयोग करना पड़ा। लेकिन प्रसून जोशी को अफसोस है कि सट-सटकर बैठने जैसे शब्दों के प्रयोग से जो तपिश और ध्वनि निकलती है, वह पास-पास में कहाँ निकलती है। अब तक यह आरोप लगता रहा है कि शाब्दिक ज्ञान की दुनिया नई पीढ़ी में सिमट रही है। लेकिन यह प्रक्रिया तो सत्तर के दशक में ही शुरू हो गई थी, जब कथित तौर पर मांटेसरी और कान्वेंट स्कूलों की खेप गाँवों तक पहुँचनी शुरू हुई थी। यह प्रक्रिया तो इन दिनों अपने चरम पर है। लेकिन सत्तर-अस्सी के दशक में शुरू हुए अधकचरे कान्वेंट की परम्परा ने जड़ जमा ली है और वहाँ से पढ़कर निकली पीढ़ी अब जवान हो गई है। वही पीढ़ी है, जिसे सट-सटकर बैठने का अर्थ अब समझ नहीं आता है। इस पीढ़ी के सामने आपने खालिस हिंदी का प्रयोग

किया तो आपको यह भी सुनने के लिए तैयार रहना होगा— क्या डिफिकल्ट हिंदी बोलते हैं आप। इस पूरी प्रक्रिया में भागीदार अपना मीडिया भी है। मीडिया के छात्रों और नवागंतुकों को एक ही चीज बताई-समझाई जाती है कि सरल-सहज भाषा में अपनी बात रखो। सहजता और सरलता की यह परम्परा इतनी गहरी हो गई है कि सामान्य हिंदी के शब्दों की बजाय अंग्रेजी के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग जारी है। कुछ साल पहले तक हिंदी अखबार इसे राष्ट्रमण्डल या राष्ट्रकुल खेल कहते नहीं अघाते थे। लेकिन अब वे भी इन शब्दों को भूल गए हैं। हमसे पहले की पीढ़ी ने भाषा का संस्कार और उसका पाठ अखबारों के जरिए ही सीखा है। लेकिन तब मीडिया संस्कारित करने की भूमिका भी निभाता था। लेकिन आज ऐसी हालत नहीं रही है। उसका तर्क है कि उसके पाठक जो पढ़ना चाहते हैं, वह उसे पढ़ाना चाहता है। मीडिया को अब हिंगलिश भाषा अच्छी नजर आने लगी है और यह सब हो रहा है नई पीढ़ी के नाम पर। तर्क तो यह भी दिया जाता है कि नई पीढ़ी को यही सब पसंद है। लेकिन यह तर्क देते वक्त हम यह भूल जाते हैं कि नई पीढ़ी तो सड़क पर ही जीवन की वर्जनाओं को तोड़ना चाहती है। क्या इसकी छूट दी जा सकती है। नई पीढ़ी को छेड़खानी और बदतमीजी में ही मजा आता है। क्या इसके लिए छूट दी जा सकती है। दरअसल मनुष्य स्वभाव से ही आदिम और जानवर होता है। उसे सलीका और शिष्टाचार का पाठ संस्कारों और शिक्षा के जरिए पढ़ाया जाता है। भाषा का संस्कार भी उसी प्रक्रिया की एक कड़ी है। लेकिन दुर्भाग्य से हमने उस परम्परा को तोड़ दिया है। 1853 में जब मैकाले की मिंट योजना के बाद देसी और प्राच्य शिक्षा को खत्म करके सिर्फ अंग्रेजी शिक्षा देने की ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार ने तैयारी की तो उसका जोरदार विरोध हुआ था। तब सवाल उठा था कि अपनी भाषाएँ खत्म हो जाएँगी और भाषा खत्म होगी तो संस्कृति पर भी खतरा आएगा। मैकाले की योजना तब सफल तो नहीं हुई, लेकिन आजादी के बाद यह योजना सफल होती नजर आ रही है। जो काम विदेशी नहीं कर पाए, आजादी के बाद आई अपने लोगों की सरकार की नीतियों ने वह कर दिखाया है।

दैनिक जीवन में शब्दों के संकोचन को हर वक्त महसूस किया जा सकता है। दैनंदिन व्यवहार में आने वाले शब्द भी अब हम भूलते जा रहे हैं। अगर दिमाग पर जोर डालकर उन शब्दों की तलाश करें तो आपको पता चलेगा कि शब्दों के ज्ञान की दुनिया में कितनी कमी आ चुकी है। हिंदी पखवाड़ा जारी है। हिंदी को कथिततौर पर विकसित करने का पाखण्ड जारी है। बेहतर तो होता कि हिंदी को अपने लपेटे में ले रही इस प्रवृत्ति पर भी विचार किया जाता। यहीं पर याद आता है भारतीय पत्रकारिता के अतीत में भाषा से किए गए सकारात्मक प्रयोग। सच्चिदानंद हीरालाल वात्सायन अज्ञेय के सम्पादन में निकली टाइम्स ऑफ इंडिया समूह की पत्रिका दिनमान ने अपनी तरह से भाषा को लेकर बहुत ही उम्दा और देसज प्रयोग किए थे। इस प्रयोग पर आज की पत्रकारिता की निगाह पड़नी जरूरी है।

दिनमान और नई भाषा

मेरा मानना है कि पत्रकारिता और साहित्य दोनों दो अलग-अलग विधाएँ हैं। भाषा को छोड़ दें तो विषयवस्तु या विचार के स्तर पर किसी साहित्यकार सम्पादक ने हिंदी पत्रकारिता को कोई ज्यादा मजबूत किया है— मैं ऐसा नहीं मानता। सारी दुनिया में पत्रकारिता की भाषा को साहित्य ने अपनाया है। हमारे यहाँ उल्टी गंगा बहाने की कोशिश होती रही... प्रिंट मीडिया के लिए भाषा और शैली की जरूरत है, पर इसका अर्थ ये नहीं कि किसी विद्वान पंडित साहित्यकार को सम्पादक बना दिया जाए।

हिंदी के शीर्षस्थ पत्रकार सुरेंद्र प्रताप सिंह ने 1997 में अपनी मौत से पहले एक साक्षात्कार में ये बात कही थी। बाद के दौर में सुरेंद्र प्रताप सिंह अकेले पत्रकार नहीं थे— जिन्होंने साहित्य और पत्रकारिता के आपसी रिश्ते को लेकर ऐसे सवाल उठाए हों। लेकिन ये भी सच है कि दिनमान ने भाषा के स्तर पर जो ऊँचाई हासिल की, उसमें उनके तीनों प्रारम्भिक सम्पादकों का ज्यादा योगदान था। इसकी वजह भी यही थी कि चाहे अज्ञेय हों या फिर रघुवीर सहाय या कन्हैयालाल नन्दन, तीनों मूलत: साहित्यकार रहे हैं। यही वजह है कि दिनमान में भाषा की रवानी बनी रही— लेकिन ये भी सच है कि इन लोगों ने भाषा की शुचिता को बरकार रखा। दिनमान के पृष्ठ इसके गवाह हैं।

हिंदी में इन दिनों आम आदमी को समझाने वाली भाषा के नाम पर हिंदी के साथ सफल छेड़-छाड़ करने का चलन बढ़ गया है। उदारीकरण ने इस प्रक्रिया को अब इतना बढ़ा दिया है कि इस पर अब सवाल भी उठने बन्द हो गए हैं। अगर किसी ने भूले-भटके सवाल उठाने का साहस कर दिखाया तो उसे प्रहसन का पात्र बना दिया जाता है।

लेकिन दिनमान की कहानी दूसरी रही। उसने हिंदी के साथ नए प्रयोग किए। दिनमान ही क्यों, उस दौर तक खासकर पत्रकारों में अपनी भाषा के साथ प्यार-दुलार और उसे आगे बढ़ाने की एक लालसा थी। एक वजह यह भी हो सकती है कि दिनमान के पत्रकारों ने हिंदी को आगे बढ़ाने में भूमिका निभाई। लेकिन सही मायने में कहें तो सरस्वती, मर्यादा, माधुरी और चाँद जैसी पत्रिकाओं की परम्परा को दिनमान ने आगे बढ़ाया। शायद ये इसलिए सम्भव हो पाया कि दिनमान के शुरू के तीनों सम्पादक मशहूर साहित्यकार रहे और उनकी टीम में भी साहित्यिक जगत की हस्तियाँ का बोल-बाला रहा। पहले सम्पादक अज्ञेय, बाद में आए रघुवीर सहाय और कन्हैयालाल नन्दन का साहित्यकार रूप पत्रकार से कहीं ज्यादा बड़ा था। हालांकि रविवार शुरू करने वाले सुरेंद्र प्रताप सिंह पत्रकारिता में नए विषयों के समावेश में कमी के लिए हिंदी के लेखक पत्रकारों की परम्परा पर जगह-जगह सवाल उठाए हैं। लेकिन ये भी सच है कि अगर दिनमान में इन तीनों सम्पादकों के अलावा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीकान्त वर्मा, प्रयाग शुक्ल, विनोद भारद्वाज जैसे लोगों का होना कम से कम हिंदी भाषा को बचाए रखने और उसे आगे बढ़ाने की गारंटी था। सच तो यही

है कि इन्हीं लोगों के जरिए दिनमान ने पत्रकारिता की नई भाषा गढ़ी थी।

दिनमान ने कई नए शब्दों को भी गढ़ा— ये बात और है कि इनमें से कई शब्द बाद के दौर में नहीं चल पाए। और तो और खुद दिनमान में भी इनका चलन बन्द हो गया। दिनमान शुरूआती दिनों में वियतनाम को वीएतनाम लिखता था। इसी तरह तमिल की जगह तमिश् का प्रयोग होता था। जाहिर है आज का तमिलनाडु दिनमान के लिए तब तमिष्नाडु था। आज का हरियाणा, उस दौर में हरयाणा था। आज जिसे हम स्वतंत्र प्रजातांत्रिक गणतंत्र कहेंगे— तब दिनमान के लिए स्वाधीगण प्रजातंत्री था। 1971 में बांग्लादेश के उदय के बाद दिनमान ने मुजीबुर्रहमान के बयानों के आधार पर लिखा था कि बांग्लादेश स्वाधीगण प्रजातंत्री देश होगा। आज का हिंदमहासागर का द्वीप डियागो गार्सिया, दिनमान के पृष्ठों पर ज्यागो गार्सिया के तौर पर दर्ज होता था। इसी तरह रूस के यूराल पर्वत को उराल लिखा जाता था। भारतीय मूल के लेखक वी एस नायपॉल को दिनमान वी एस नैपाल लिखता था। इसी तरह दिनमान में हांगकांग को हांड.कांड., इंडोनेशिया को इंदोनेशिया, थाईलैंड को थाईदेश, ट्रिनीडाड को त्रिनीदाद, कनाडा को कैनाडा, अर्जेंटीना को अर्हेंतीना, कम्बोडिया को कम्बुजिया और बाद में कम्बोदिया, स्पेन को स्पान, मलयेशिया को मलयेसिया और कई जगह मलाया भी लिखा जाता था। आज जो तन्जानिया है— उसे दिनमान के पृष्ठों पर तांजानिया के रूप में देखा जा सकता है। पोलैंड उन दिनों पोलस्का के रूप में दिनमान के पन्नों पर छाया रहता था। कुछ इसी अंदाज में इथियोपिया तब इथोपिया लिखा जाता था। स्पेन की कम्युनिस्ट पार्टी को स्पानी कम्युनिस्ट पार्टी, जर्मन विद्वान मैक्समूलर को मक्समूलर, स्वीडन की पार्टी को स्वीडी पार्टी, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के वरिष्ठ नेता च्यांग काई शेक को च्यांड.काई शेक लिखा जाता था।

अज्ञेय के इन भाषाई प्रयोगों से साफ है कि उन्होंने संज्ञा पदों का भी हिंदीकरण करने की कोशिश की थी— अज्ञेय दरअसल हिंदी की टाइम मैगजीन निकाल रहे थे— इसलिए उनके सामने कहीं न कहीं हिंदी पत्रकारिता के सामने एक प्रतिमान रहा होगा और इसे सफल करने की कोशिशों के तहत उन्होंने इन विदेशी मूल के शब्दों का भी हिंदीकरण करने की कोशिश की। उन्होंने सोचा होगा कि ये शब्द हिंदी में चल जाएंगे। ये परम्परा उनके उत्तराधिकारी रघुवीर सहाय तक चलती रहती है— लेकिन 1977 के बाद दिनमान को लगता है कि हिंदीभाषी लोग इन्हें नहीं अपना पाएंगे और इन शब्दों का दिनमान में प्रयोग रोक दिया गया। आज के दौर में अज्ञेय और रघुवीर सहाय के ये प्रयोग अटपटे जरूर लग सकते हैं— लेकिन हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि ऐसे ही प्रयोगों से हिंदी आगे बढ़ी है। अज्ञेय अंग्रेजी के भी जानकार थे— रघुवीर सहाय ने तो अंग्रेजी में डिग्री ही ली थी। दोनों ने बरसों तक अपनी इसी योग्यता के दम पर आकाशवाणी में काम भी किया— लेकिन दोनों में अपनी हिंदी को आगे बढ़ाने की जोरदार लालसा थी। अंग्रेजी के प्रभुत्व वाले संस्थान

में अपनी इस लालसा को पूरा करने के लिए दोनों ही सम्पादकों ने अनथक प्रयास किए। अगर ऐसा नहीं होता तो दिनमान 18 मार्च 1975 के अंक में ये ऐलान नहीं करता कि राष्ट्र की भाषा में राष्ट्र का आह्वान।

2006 में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल टी.वी. राजेश्वर के एक कथन ने जोरदार बहस छेड़ दी थी। उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी दुनिया को देखने की खिड़की है और उसकी पढ़ाई पर जोर दिया जाना चाहिए। दिनमान में सत्तर के दशक में भी ऐसी रिपोर्टें भी छपती रहीं हैं। इसके लिए दिनमान के एक फरवरी 1970 के अंक को देखना कहीं ज्यादा समीचीन होगा— जब उसके पृष्ठों पर अंग्रेजी के समर्थन में तब के दिल्ली के उपराज्यपाल आदिनाथ झा के आह्वान की रिपोर्ट छपी थी। आदिनाथ झा ने अंग्रेजी को बढ़ावा देने की ये अपील मशहूर दार्शनिक बंटेंड रसेल स्मृति व्याख्यान में की थी। इस व्याख्यान में उन्होंने भारतीय अंग्रेजी को बढ़ावा देने की बात कही थी। दिनमान और उसके यशस्वी सम्पादक चाहते तो इसे रोक सकते थे— लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

सच तो ये है कि दिनमान ने नए भाषिक शब्दों को गढ़ा और उन्हें प्रचलित करने की कोशिशें भी खूब कीं। लेकिन यदि वे शब्द चल नहीं पाए तो उनसे किनारा करने में दिनमान ने देर भी नहीं लगाई। उपरोक्त दिए गए शब्दों में से कई आज नहीं चलते। लेकिन हिंदी की अपनी रवानी को बनाए और बचाए रखते हुए दिनमान की टीम ने वह कर दिखाया— जिसकी सही मायने में हिंदी भाषा और पत्रकारिता को जरूरत थी। पूरी दुनिया में अपनी भाषाओं के लिए आज के दौर में भी एक खास तरह का आग्रह देखा जा रहा है। लेकिन कम से कम आज की हिंदी पत्रकारिता के लिए ऐसी सोच बिना वजह का विषय बन गई है। हिंदी की जगह आम बोलचाल की भाषा के नाम पर अंग्रेजी शब्दों का ना सिर्फ अनगढ़ प्रयोग बढ़ा है— बल्कि हिंदीकरण के नाम पर अंग्रेजी शब्दों को हिंदी के व्याकरण को दरकिनार करते हुए अपनाया जा रहा है। मसलन-नर्सेस आन्दोलन पर हैं। या स्कूल बन्द कर दिए गए हैं। लेकिन दिनमान के ये प्रयोग इनसे अलग थे और हिंदी की आत्मा के अनुकूल थे। ऐसे में ये कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दिनमान के ये प्रयोग हिंदी की रवानी को ध्यान में रखते हुए किए गए थे। भाषाई स्तर पर दिनमान की इस भूमिका को गांधी के जीवन पर पहला गिरमिटिया जैसे मशहूर उपन्यास के लेखक और आईआईटी कानपुर के पूर्व रजिस्ट्रार गिरिराज किशोर ने भी समझा है। उनका कहना है— दिनमान ने उस समय जो राजनीतिक शब्दावली हिंदी को दी थी, राजनीतिक चरित्र के साथ उसमें रचनात्मक संस्कार भी था। व्यवसायिकता का ध्यान भी रखा गया था। अज्ञेयजी का मानना था कि हिंदी को जब तक हम बहुआयामी स्तर पर समृद्ध नहीं करेंगे, उसे एक सम्पूर्ण भाषा बनाने में कठिनाई होगी। आज इनका प्रयोग किया जाय तो प्रयोग करने वाले को दकियानूसी कहा जाएगा। सुरेंद्र प्रताप सिंह ने अपने आखिरी इंटरव्यू में एक तरह से इसी विचार को ही

प्रतिपादित किया है। लेकिन दिनमान के भाषिक प्रयोगों पर ध्यान देने से ये बात साफ हो जाती है कि उसका मकसद हिंदी को गढ़ना, उसे आगे बढ़ाना और उसे नई शैली के साथ प्रचलित कराना भी था।

दरअसल दिनमान को अंग्रेजी की मशहूर पत्रिका टाइम का हिंदी संस्करण बनाना था। अज्ञेय ने नवम्बर 1964 में जब दिनमान को बतौर हिंदी की टाइम मैगजीन निकालने की चुनौती स्वीकार की— तब उनके सामने दिनमान को गढ़ने की दृष्टि तो थी— उनके दिमाग में हिंदी की टाइम मैगजीन भी थी। लेकिन वे सुविधाएँ नहीं थीं— जो टाइम्स समूह के दूसरे अंग्रेजी पत्रों और पत्रिकाओं को दी गई थी। अज्ञेय जानते थे कि सीमित संसाधनों में दिनमान बतौर टाइम मैगजीन कैसे निकाला जा सकता है। उन्हें पता था कि भाषाई स्तर पर दिनमान को कुछ खास कर दिखाना होगा। ये उनकी दृष्टि ही थी कि वे फणीश्वर नाथ रेणु से बिहार की परिस्थितियों पर रिपोर्ताज लिखवा सके। चाहे 1967 का सूखा हो या फिर बाद के दौर की भयानक बाढ़-रेणु जी ने दिनमान के लिए अप्रतिम रिपोर्ताज लिखे— जिन्हें बाद में ऋणजल-धनजल नाम से संकलित किया गया है। रेणु का ये लेखन उस दौर की पत्रकारिता ही थी— लेकिन ये पत्रकारिता आज हिंदी साहित्य की अनुपम निधि है। जिसे साहित्य जगत भी पूरे आदर के साथ देखता है। कहना ना होगा कि तब की ये पत्रकारिता आज के दौर में पत्रकारिता की बजाय साहित्यिक लेखन की तरह याद और समाहृत की जाती है।

निर्वाक् दुखः, शब्दातीत शोक— दिनमान के 14 जनवरी 1966 के अंक के कवर पर ये शीर्षक प्रकाशित हुआ है। तत्कालीन प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री की मौत पर दिनमान ही ऐसा शीर्षक देने की हिम्मत कर सकता था— आज के दौर में किसी अखबार या पत्रिका में ऐसे शीर्षक की कल्पना ही बेमानी है। यहाँ पर मनोहर श्याम जोशी के शब्दों को उधार लेते हुए एक बार फिर कहना पड़ेगा कि ऐसा नहीं कि अज्ञेय दिनमान में खिलंदड़ भाषा का प्रयोग नहीं करते थे। ऐसा होता था— लेकिन वह सब जोशी जी के नाम पर होता। जिसे दिनमान के पृष्ठों पर बखूबी देखा जा सकता है। इसके लिए 10 जनवरी 1971 के अंक में प्रकाशित एक शीर्षक को देखा जा सकता है— संगीत सम्मेलनों से कटता कानसेन। कितना जबर्दस्त शीर्षक है। इसके तहत संगीत सम्मेलनों से गायब होते रसिक श्रोताओं पर टिप्पणी की गई है। लेकिन एक तथ्य साफ है कि दिनमान के पृष्ठों पर अगर गम्भीर और मौन समझे जाने वाले अज्ञेय ने खिलंदड़ी भाषा का इस्तेमाल किया तो इसका खास मतलब है— मतलब ये कि वे खुद पत्रकारिता में भाषा की रवानी को स्वीकार करते थे।

सम्पर्कः जयप्रकाश, दूसरा तल, निकट शिवमंदिर, एफ-23 ए, कटवारिया सराय, नई दिल्ली -110016
लेखक टेलीविजन पत्रकार, स्तम्भकार और हिंदी सेवी हैं।

हिन्दी-मलयालम भाईचारा

डॉ. आरसु

हिन्दी और मलयालम के बीच भाईचारा कैसे सम्भव हुआ? कब किस परिस्थिति में वह रिश्ता मजबूत बन गया? किसने आरम्भ में उसको नेतृत्व दिया था? ये प्रश्न आज बिलकुल संगत है। इन सवालों के उत्तर तलाशने हैं। इतिहास के पन्नों को पलटना तब अनिवार्य बन जाता है।

महात्मा गांधी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन (1918) की अध्यक्षता की थी। वहाँ अपने अध्यक्षीय भाषण में गांधीजी ने एक सुझाव रखा था। राष्ट्र की आजादी के लिए लड़ते समय एक राष्ट्रभाषा की सख्त जरूरत पड़ती है। हिन्दी इसके लिए सर्वथा सक्षम भाषा है। दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार करना समय की माँग है। हिन्दीभाषियों का सहयोग इसके लिए आवश्यक है। राष्ट्रीय चेतना को जगाने के लिए हिन्दी को एक औजार बनाना है।

यह सुझाव सभा ने स्वीकार कर लिया था। गांधीजी को पुरजोर समर्थन मिला था। उनका हौसला बढ़ गया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने बड़ी राशि भेंट की थी। इसको पूँजी बनाकर मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना गांधीजी ने की थी। 1918 में स्थापित इस संस्था का अध्यक्ष पद गांधीजी ने संभाला रोज-रोज की गतिविधियों की देखरेख के लिए पुत्र देवदास गांधी को विशेष दायित्व भी दिया था।

केरल, मद्रास, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश की अपनी-अपनी मातृभाषाएँ हैं। वे क्रमशः मलयालम, तमिल, कन्नड़ तथा तेलुगु हैं। सभा ने नया पाठ्यक्रम बनाया। हिन्दी पढ़ाने के लिए सुयोग्य अध्यापकों को नियुक्त किया। मद्रास सभा का मुख्य केन्द्र रहा। राष्ट्रपिता के आह्वान को मानकर स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी हिन्दी पढ़ाने लगे। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर मिलने वाले प्रमाण पत्र में गांधीजी का हस्ताक्षर था। क्योंकि सभा के अध्यक्ष वे ही थे। प्रेरणा, प्रबुद्धता राष्ट्रप्रेम जैसे तब घुलमिल गये थे। हिन्दी सीखना एक राष्ट्रीय कर्तव्य है— यों लोग सोचने लगे थे। विद्यालयों से नहीं, जेलखानों से हिन्दी की प्रारम्भिक शिक्षा उस

समय के छात्रों को मिलती रही।

कई मलयालम भाषियों ने इससे फायदा उठाया। हिन्दी प्रचारक देशभक्ति के प्रचारक के रूप में समाज में माने गये। मंजप्रा गाँव के दामोदरन उण्णि केरल के प्रथम प्रचारक थे। हिन्दी पढ़कर प्राध्यापक, लेखक, अनुवादक बने व्यक्तियों में अभय देव, पी. नारायण, पी. राघवन, वी. कौमुदी, देव केरलीय, केशवन नम्पूतिरि, पद्मनाम आर्या, गोविन्दन नबीशन, ई. के. दिवाकरन पोट्टी, के. रविवर्मा, एम. श्रीधर मेनोन आदि शामिल थे।

उनकी बड़ी शिष्य परम्परा है। कॉलेज और विश्वविद्यालयों में प्राप्त सुविधाओं से ये शिष्य फायदा उठा सके। प. चन्द्रहासन, विश्वनाथ अय्यर, एन. रामन नायर, के. भास्करन नायर, रति देवी अम्मा, लक्ष्मी कुट्टी अम्मा, गोमती आदि शिष्य कॉलेज और विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर बन गये। इनके लिए हिन्दी महज एक भाषा नहीं थी। भारत की संस्कृति की नींव के रूप में उन्होंने हिन्दी को माना था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी को केरल के स्कूलों में एक वैकल्पिक भाषा के रूप में पाठ्यक्रम में जगह मिली। फिर केरल राज्य गठन के बाद पाँचवीं से दसवीं कक्षा तक पाठ्यक्रम में अनिवार्य भाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता मिली। इसके बाद कॉलेजों में द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी को स्थान मिला। 1957 में तिरुवनन्तपुरम के यूनिवर्सिटी कॉलेज तथा पाला सेंट थॉमस कॉलेज में हिन्दी एम. ए. पाठयक्रम शुरू हुआ। केरल, कालिकट, कोच्ची, कण्णूर विश्वविद्यालयों में बाद में हिन्दी में एम. ए., एम-फिल पी.एचडी स्तर तक हिन्दी अध्ययन की सुविधा प्रदान की गयी। महात्मा गांधी विश्वविद्यालय के मुख्य केन्द्र में आज भी हिन्दी एम.ए. पाठ्यक्रम शुरू नहीं हुआ है। विश्वविद्यालय नाम में गांधी है। लेकिन काम में हिन्दी नहीं है। यह कमी जल्द दूर होगी। 2012 में केन्द्रीय विश्वविद्यालय में (कांसरगोड़ में) हिन्दी विभाग की स्थापना हुई। ये सारे विश्वविद्यालय आज हिन्दी अध्ययन के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं।

केरल की मातृभाषा मलयालम है। इधर के लगभग सारे हिन्दी अध्यापकों की मातृभाषा मलयालम है। केन्द्रीय विश्वविद्यालय के कुछ अध्यापक इसके अपवाद हैं। अनुवाद, तुलनात्मक अध्ययन, जैसे विषयों पर अधिक ध्यान पड़ना स्वाभाविक है।

हिन्दी पाठ्यक्रम में केरल के विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के अमर साहित्यकारों की कृतियों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, जगदीशचन्द्र माथुर, शंकर शेष जैसे आधुनिक साहित्यकारों की बहुचर्चित कृतियों से इधर के छात्र परिचित हैं। धर्मवीर भारती, अज्ञेय, जगदीश गुप्त, दिनकर, बच्चन, नरेश मेहता जैसे आधुनिक कवियों की कृतियाँ भी पाठ्यक्रम में निर्धारित हुई हैं।

शोध विषयों के चयन में कुछ मार्गदर्शकों ने नये निराले विषय पर विशेष ध्यान दिया है। 'दक्षिण भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनूदित उपन्यासों में ग्रामीण चेतना' शीर्षक शोध

प्रकाशित हुआ है। प्रेमचन्द और तकवी के उपन्यास, सुमित्रानन्दन पन्त तथा जी. शंकर कुरुप का काव्य संसार, अज्ञेय और अय्यप्पा पणिक्कर की काव्य साधना आधुनिक हिन्दी मलयालम की काव्य प्रवृत्तियाँ- जैसे विषयों पर हुआ शोध केवल केरला में ही सम्भव हैं।

कई हिन्दी पत्रिकाएँ केरल से प्रकाशित हुई हैं। आर्य केरली, युगप्रभात जैसी पत्रिकाएँ पहले बहुत जबरदस्त बनी थीं। बाद में वे बन्द हो गयीं। केरल भारती, केरल ज्योति, संग्रथ, अनुशीलन, साहित्य मण्डल पत्रिका, केरल हिन्दी अकादमी पत्रिका, विकल्प शोध क्षितिज और भारत पत्रिका के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दी भाषी प्रदेशों से निकलती कई पत्रिकाओं ने मलयालम विशेषांक प्रकाशित किये हैं। मलयालम साहित्यकारों की रचनाएँ हिन्दी में अनुवाद करके छापने की यह योजना बहुत कारगर बन गयी। उन पत्रिकाओं के सम्पादकों का प्रोत्साहन अविस्मरणीय रहा है।

अनुवाद, मधुमती, युगस्पंदन, अंतरंग, उम्मीद, छत्तीसगढ़ टुडे, सद्भावना दर्पण, नवनिकष, प्रेमचंद पथ, नया ज्ञानोदय जैसी पत्रिकाएँ इनमें शामिल हैं।

केरल के कई लेखकों ने हिन्दी में मौलिक कृत्तियाँ लिखी हैं। ललित निबन्ध की विद्या में डॉ. विश्वनाथ अय्यर की कृतियाँ बहुत सराही गयी हैं। डॉ. चन्द्रशेखरन नायर ने महाकाव्य 'चिरंजीव' लिखा है। सोमनाथन नायर नाटककार हैं। पी. कृषणन, जी. गोपीनाथन गोविन्द शेनाय, के. बाबू और श्रीधरन नाम्बियार ने कथाकृतियाँ लिखी हैं। के.सी. अजय कुमार परवर्ती पीढ़ी के उपन्यासकार हैं। पी. वी. विजयन, एन. रवीन्द्रनाथ, ए. अरविन्दाक्षन, एम. षणमुखन, टी. एस. पोन्नम्मा, कौशल्या अम्माल तथा सनल कृष्णन की काव्यकृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने साहित्यिक साक्षात्कार विद्या में छह कृतियाँ प्रकाशित की हैं।

समीक्षा-तथा निबन्ध की विधा में पचास से ज्यादा लेखकों की कृतियाँ हिन्दी को मिली हैं। कई शोधार्थियों के शोध प्रबन्ध आज पुस्तकें बन गयी हैं। कई लेखिकाओं ने हिन्दी में समीक्षाएँ लिखी हैं। तंकमणि अम्मा, के. एम. मालती, शमीम तथा सुधा बी. के. नाम उल्लेखनीय हैं।

जीवनी के क्षेत्र में वी. के. रवीन्द्रनाथ, पी. के. शुधामणि की विशेष देन रही है। केरल के आध्यात्मिक सांस्कृतिक विचारक युगनिर्माता श्रीनाराक्षण गुरु की जीवनियाँ इन्होंने लिखी है। कुछ आप बीती-कुछ हिन्दी बीती इन पंक्तियों के लेखक की आत्मकथा है। आगे की पीढ़ी के निबन्धकारों में डॉ. प्रमोद कोवप्रत्त और आर. शशिधरन की ठोस उपलब्धियाँ हैं।

विश्वविद्यालयों की संगोष्ठियों में अतिथि के रूप में कई हिन्दी साहित्यकार केरल में आमन्त्रित हुए हैं। उनसे मिलने, बातचीत करने, भाषण सुनने के अवसर छात्रों को मिले हैं। यशपाल, अज्ञेय, मोहन राकेश, नन्द दुलारे वाजपेयी, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, गोपाल राय,

रमेश कुन्तल मेघ, निर्मल वर्मा, अरुण कमल, राजेन्द्र यादव, लक्ष्मीनारायण लाल, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, चन्द्रकान्त देवताले, अशोक वाजपेयी, प्रेमशंकर, गिरिराज किशोर, रामदरश मिश्र, गंगा प्रसाद विमल, जगदीश गुप्त, विजयेन्द्र स्नातक हिन्दी प्रदेश से आये प्रमुख अतिथि हैं। हिन्दी की मुख्य धारा से जुड़ने के लिए केरल के हिन्दी प्रेमी हमेशा उत्सुक रहे हैं।

केरल की संस्कृति, मलयालम भाषा, मलयालम साहित्य आदि पर कुछ मलयालम भाषियों ने हिन्दी में मौलिक कृतियाँ लिखी हैं। मलयालम साहित्य का इतिहास (के. भास्करन नायर) केरल वैभव (लक्ष्मी कुट्टी अम्मा) बौद्ध युगीन केरल (के. रवि वर्मा) इस विद्या की आरम्भिक कृतियाँ हैं। कथकलि पर सुकुमारन नायर तथा रामचन्द्र देव ने लिखा है। मलयालम नाटककारों का परिचय आर. शशिधरन ने दिया है। मलयालम साहित्य परख और पहचान, मलयालम साहित्य-मार्ग और मार्गदर्शक और मलयालम के महान काव्यकार इन पंक्तियों के लेखक की कृतियाँ हैं। मलयालम की दलित साहित्य धारा पर ए. अच्युतन ने विशेष काम किया है। स्त्री नारी विमर्श की विधा में डॉ. बी. सुधा ने गहन अध्ययन किया है।

एच. परमेश्वरन ने भाषा विज्ञान के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया है। के. कृष्णन नम्पूतिरि ने व्याकरण पर गहन अध्ययन किया है। हिन्दी के प्राचीन रूप विशेषकर दक्खिनी हिन्दी पर मुहम्मद कुंणु मेहतर का अवदान उल्लेखनीय है। लोककला पर सी.पी.वी. विजय कुमारन की ठोस देन है। हिन्दी मलयालम कोशकार के रूप में अभय देव ने आरम्भिक काम किया था। बाद में एन. के. जोसफ ने इस विद्या को आगे बढ़ाया है।

मलयालम भाषियों को हिन्दी सीखने का अवसर मिला। इसके कई सद्परिणाम निकले हैं। भारतीयता की समग्र सोच के लिए मार्ग सुगम बन गया। कई कालजयी कृतियों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सके। कई कृतियों के अनुवाद के लिए रास्ते खुल गये। साहित्यिक पत्रकारिता से लाभान्वित हो सके। तुलनात्मक अध्ययन की दिशाएँ विशाल बन गयीं। हिन्दी संस्थाओं की ओर से संस्थापित कई पुरस्कार इधर के लेखकों को मिले।

हिन्दी प्रदेश से केरल आकर कुछ हिन्दीभाषियों ने मलयालम सीखी। मलयालम की कुछ श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद हिन्दी में करने का प्रयास उन्होंने किया। सुधांशु चतुर्वेदी, यु.के.एस. चौहान, रति सक्सेना और राकेश कालिया की हिन्दी मलयालम सेवा अत्यन्त सराहनीय है। हिन्दी प्रदेश की पत्रिकाओं में मलयालम भाषियों की रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। विश्व हिन्दी सम्मेलनों में कई मलयालम भाषी हिन्दी विद्वान सम्मानित हो चुके हैं। हिन्दी की सेवा करके अंगीकार-पुरस्कार पा चुके मलयालम भाषी हिन्दी के अत्यन्त ऋणी हैं।

गांधीजी की प्रथम पौत्री सुमित्रा गांधी कुलकर्णी 1997 में केरल आयी थीं। केरल के हिन्दी लेखकों से उनकी मुलाकात हुई थी। गांधीजी की अनुयायी वी. कौमुदी के घर भी वे गयी थीं। सोलह साल की आयु में गांधीजी का आह्वान सुनकर इस लड़की ने (1934)

में अपने पूरे गहने उतारकर भेंट कर दिये थे। कौमुदी-सुमित्रा के अंतरंग संवाद में कई बातें उभर आयीं थी। हरिजन में गांधीजी ने कोमुदी का त्याग शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी थी। तुम्हारा त्याग तुम्हारा भूषण है— यह आटोग्राफ गांधीजी ने कौमुदी को लिखकर दिया था। गांधीजी के कहे अनुसार कौमुदी ने हिन्दी सीखी। हिन्दी की प्राध्यापिका बनी। राष्ट्रपिता से राष्ट्रभाषा में पत्र व्यवहार करने का सौभाग्य भी कौमुदी को मिला। अनमोल विरासत सुमित्राजी की किताब है। यह गांधीजी की जीवनी है। उसके आमुख में सुमित्राजी ने लिखा है कि मलयालम भाषी हिन्दी अध्यापिका कोच्चम्माल पिल्लै ने शुरू में उन्हें हिन्दी सिखायी थी।

मलयालम भाषियों को हिन्दी के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ना है। हिन्दी राज्यों को प्रोत्साहन अधिकाधिक मिलना है। उधर के प्रकाशकों का ध्यान इधर के लेखकों की कृतियों पर पड़ना है। कुछ प्रकाशक उनकी कृतियाँ बेचने के लिए यहाँ उत्साह से आते हैं। किन्तु प्रकाशन में उन्हें रुचि नहीं है। वे केरल को उपनिवेश मानते हैं। इस दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन जरूरी है। हिन्दी सारे भारतीयों की आम सम्पत्ति है। भारतीय भाषाओं को जोड़ने की कड़ी के रूप में हिन्दी अहम भूमिका निभा रही है। वैचारिक विशालता, दर्शनिक विराटता और भावनात्मक एकता की प्रगति में हिन्दी की सेवा अतुलनीय है। 1967 में हिन्दी मेरी उच्च शिक्षा का विषय बनी थी। उस वर्ष मुझे प्री डिग्री क्लास में प्रवेश मिला था। अब 50 वर्ष यानी स्वर्णजयन्ती का समय आया है। विश्वविद्यालय का हिन्दी प्रोफेसर विभागाध्यक्ष बनकर मैं सेवा कर सका। वह ज्ञान विस्तार और कर्म विस्तार का विराट क्षेत्र बनता रहा। गांधी स्मृति दर्शन समिति से भी मेरा सम्बन्ध हिन्दी के जरिये स्थापित हो पाया है।

सम्पर्क: पो.- चेलेम्बरा, मल्लापुरम, केरल, पिन - 673634

अपनी आजादी को कैसे अभिव्यक्त करें?

सोपान जोशी

हमारी माँ की मातृभाषा शेखावाटी है। वह कानपुर में पली-बढ़ी, शादी के बाद इन्दौर चली गयीं और विगत 45 वर्षों से दिल्ली में रह रही हैं। जब वह किसी ऐसे व्यक्ति से मिलती हैं जो मारवाड़ी हड़ौती, मेवाड़ी या अन्य राजस्थानी भाषा में बात करता है तो उनके चेहरे पर चमक आ जाती है। अन्य किसी कारण से ऐसी खुशी नहीं होती है। उनकी आवाज कम हो जाती है, उनका चेहरा प्रफुल्लित हो जाता है और उनका अक्सर अल्पभाषी चरित्र समाप्त हो जाता है। वह अपने असली रूप में आ जाती हैं।

हमारे पिता की मातृभाषा मालवी थी। वे अत्यधिक मालवीनिष्ठ हिन्दी लिखते थे। जब वे बोलते थे तो उनके उच्चारण को पहचानने के लिए किसी प्रशिक्षित भाषाविद की आवश्यकता नहीं थी। पोहा-प्रिय किसी भी अच्छे इन्दौरी की तरह वह लम्बी स्वर ध्वनि को छोटा कर देते थे; सार्वजनिक भाषणों और सीधा टेलीविजन प्रसारणों में वे अनजाने में अपने परवरिश के स्थान का संकेत दे देते थे। वे इन्दौर और मालवा के बारे में गौरव महसूस करते थे, लोगों से मलावी गेहूँ का आटा लाने के लिए अनुरोध करते थे ताकि दिल्ली में अच्छी बाटी बनायी जा सके और मालवी गीतों की आवाज सुनकर विभोर हो जाते थे।

मेरी मातृभाषा क्या है? मैं थोड़ा-बहुत मालवी जानता हूँ और उससे कुछ कम शेखावाटी।

मैं हिन्दी बोलता हूँ जो मुझे एक बड़े समूह से जोड़ती है- बोलने वालों की संख्या के आधार पर यह विश्व की चौथी सबसे बड़ी भाषा है। मैं अधिकांशत: अँग्रेजी में कार्य करता हूँ जो दूसरी सबसे बड़ी भाषा है चीनी के बाद। आप क्या सोचते थे? इससे हमें संख्यात्मक सुरक्षा प्राप्त होती है, हमें पहुँच और अवसर मिलता है। लेकिन हिन्दी से मेरा सम्बन्ध बहुत भावात्मक नहीं है, निश्चय ही उस तरह का नहीं जैसा कि मेरे माता-पिता का लगाव अपनी मातृभाषा से था।

इससे अलग, जब मैं विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग राष्ट्रीयता के बिल्ले के रूप में सुनता हूँ तो लगता है थोपी जा रही है। मैं अहिन्दीभाषी भारतीयों के क्रोध का अन्दाजा लगा सकता हूँ जो हिन्दी के आधिपत्य का विरोध करते हैं। और जब मैं किसी लेखक को वर्णित करने के

लिए हिन्दी सेवी शब्द का प्रयोग सुनता हूँ, मुझे ओकाई आती है। यह पावलोवीवाद है।

यही कारण है कि बड़ौदा के भाषाविद् गणेश एन. देवी से बात करना राहत की बात होती है। वे ठीक एक ऐसे चिकित्सक हैं जिसकी मुझे आवश्यकता है। चार वर्षों तक के महान प्रयास के बाद वे और पूरे देश के लगभग 3000 लोगों और 80 संस्थानों ने मिलकर प्रथम भारतीय लोक भाषा सर्वेक्षण का कार्य शीघ्र ही पूरा किया है। सम्भवत: यह अपने तरह का विश्व का सबसे वृहत सर्वेक्षण है। यह इस बारे में एक शिक्षा है कि भारत क्या है— साथ ही यह भी कि भारतीय लोग अपने देश को कितना जानते हैं।

2001 की जनगणना 122 भाषाओं की सूची प्रस्तुत करती है जिसमें से 22 हमारे संविधान की आठवीं सूची में हैं। इसी बीच सर्वेक्षण से पता चला कि भारत में 780 भाषाएँ बोली जाती हैं। देवी का कथन है कि सम्भवत: हमसे लगभग 100 भाषाएँ छूट गयी होंगी अत: वास्तविक संख्या 900 के आस-पास होंगी। इस सर्वेक्षण के परिणाम 50 खण्डों की शृंखला में प्रकाशित की जा रही हैं।

1961 की जनगणना में 1652 मातृभाषाओं की जानकारी है लेकिन समान भाषाओं के विविध रूपों का हिसाब-किताब लगाने पर यह संख्या घट कर 1,100 रह जाती है। इसलिए यह निश्चित रूप से अनुमान लगाया जा सकता है कि 1961 से अब तक भारत 200 से अधिक भाषाओं को खो चुका है— सम्भवत: 228, यानी 1961 में बोली जाने वाली सभी भाषाओं का पाँचवाँ मात्र। इसलिए वे कौन से लोग हैं जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के एक दशक बाद स्वरहीन हो गये ?

अधिकांशत: घुमन्तू लोग, जो कभी संस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों में महान भूमिका निभाते थे परन्तु जब भू-स्वामित्व सामाजिक-आर्थिक स्तर का प्रमुख संकेतक बन गया तो वे हाशिये पर चले गये। यदि ये भाषाएँ आज जीवित होती तो देवी का अनुमान है कि इन्हें बोलने वालों की संख्या पाँच लाख होती।

आज बहुत सारे लोग अपनी भाषाएँ नहीं बोलते हैं इसका कारण देवी के मतानुसार उनमें अपने आत्मविश्वास और आत्मगौरव का ह्रास है। यह एक ऐसी कहानी है जिसे वह अच्छी तरह जानता है। पुणे के निकट एक गाँव में पला बढ़ा वह अपने उत्साह से हाईस्कूल पहुँच गया, इधर-उधर नौकरी की उसे याद आती है। उसने दस साल की उम्र में सामान ढोने का काम किया, खिलौने बेचे और पुस्तकों की जिल्दसाजी की। लेकिन 14 वर्ष की आयु में उसने विद्यालय छोड़ दिया। उसे अँग्रेजी समझ में नहीं आती थी।

जब वह गोवा की एक खदान में काम कर रहा था तो उसने फिर से पढ़ना शुरू किया और फिर 16 वर्ष की आयु में कॉलेज वापस आ गया। उसने यह प्रतिज्ञा की कि वह प्रतिदिन अँग्रेजी के 300 पृष्ठ पढ़ेगा। छात्रवृत्ति ने उसे पीएचडी तक पहुँचा दिया, कुछ नियत समय के लिए लीड्स विश्वविद्यालय और अस्सी के दशक के प्रथम दशक में बड़ौदा में प्रोफेसर की नौकरी की। उसकी मित्रता गुजराती लेखक सुरेश जोशी से हो गयी और उनके

साथ बिताकर वह एक पत्रिका सेतु नाम से निकालता है।

इसी दौरान बड़ौदा के एक पुस्तकालय में वे भाषायी सर्वेक्षण के बारे में पढ़ते हैं। सन् 1971 की जनगणना में 108 भाषाओं की सूची है। सन् 1961 की जनगणना में सूचीबद्ध 1,652 भाषाओं का क्या हुआ ? उन्होंने महसूस किया कि सरकार ने यह तय किया है कि 10,000 से कम लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को दस्तावेजित नहीं किया जाएगा। ये कौन लोग थे ?

देवी ने उन कामगार श्रेणी के लोगों का बहुत निकट से अवलोकन किया था जो अल्प-ज्ञात भाषाएँ बोलते थे। इसलिए उन्होंने बड़ौदा के इर्द-गिर्द गाँवों का भ्रमण प्रारम्भ किया और विश्वविद्यालय से बाहर निकलकर अपनी दुनिया का विस्तार उन क्षेत्रों तक बढ़ाया जिनका प्रतिनिधित्व अभी तक नहीं हो पाया था। सन् 1986 में गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा और देवी राहत कार्य में जुड़े। और फिर उनके मित्र जोशी का निधन हो गया।

अपने मित्र जोशी के साहचर्य और वार्तालाप से वंचित होने के बाद देवी ने अपने विचारों को लिखना प्रारम्भ किया। यह आगे चलकर 'आफ्टर अमनोसिया' शीर्षक से पुस्तक बनी जिसे 1993 में साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत किया गया। अबतक देवी की रुचि एक ही तरह का कार्य करते रहने में नहीं रह गयी। उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ दी और अपनी उस प्रतिज्ञा को भी तोड़ दिया कि प्रतिदिन 300 अँग्रेजी के पृष्ठ पढ़ने हैं। अब उनकी शक्ति भारतीय भाषाओं की ओर लग गयी।

बड़ौदा में भाषा अनुसन्धान एवं प्रकाशन केन्द्र आदिवासी अकादमी और तेजगढ़ में वे महाश्वेता देवी के साथ मिलकर 'अनुसूचित जनजातियों' की स्थिति जानने के लिए हजारों किलोमीटर की यात्रा की। कुछ ऐसे लोग हैं जो 1871 में ब्रिटिश प्रकाशन द्वारा आपराधिक जनजाति के रूप में सूचीबद्ध किये गये थे और 1952 में उन्हें इस सूची से निकाल दिया गया था।

तब से इन समूहों की सामाजिक-आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हुआ है। भाषायी सर्वेक्षण से पता चला कि वे अपनी भाषा के बारे में इस भय के कारण बात नहीं करना चाहते कि उनकी पहचान हो जाएगी। ''भाषाएँ दूसरी भाषाओं को समाप्त नहीं करती हैं। सदैव ही ऐसा होता है कि एक भाषा समूह के लोग अपनी भाषा को दूसरों पर थोपते हैं'', ऐसा उनका मानना है। सोवियत रूस के लोगों को राज्य द्वारा प्रोन्नत भाषाओं के प्रयोग के लिए बाध्य किया, फ्रैन्कोइस स्पेन ने कैटालान के प्रयोग पर रोक लगा दी। लेकिन एक भाषा जब समाज की ऊपरी परत में प्रवेश करती है तो शीत भण्डार में चली जाती है और उसका विकास बन्द हो जाता है, ऐसा देवी का कहना है। भाषा की स्वभाविक जन्म स्थली सामान्य काम-काजी वर्ग है।

भारत में, 50 के दशक में भाषा के आधार पर राज्यों का गठन कई भाषाओं के लिए घातक सिद्ध हुआ और उन्हें हाशिये पर ला दिया। भाषायी राज्यों के वर्तमान बालकनवद्धि

ता की ओर संकेत करते हुए देवी का कहना है कि प्रमुख भाषाओं के आधार पर राज्यों का सीमांकन एक भयानक विचार था। उनका कहना है कि भारत जैसे एक बहुभाषी समाज में एक भाषा के ऊपर दूसरी भाषा को प्रोन्नत करना सरकार का सरोकार नहीं है। संविधान निर्माती सभा की चर्चाओं में यह परिक्षित है, लेकिन इनमें कई बातों पर असहमतियाँ भी थीं, जिन बातों पर सहमति बन पायी उन्हें संविधान के अनुच्छेदों में शामिल किया गया। ''वे मुद्दे जिन पर असहमति थी उन्हें अनुसूचियों में डाल दिया गया।''

यही कारण है कि एक नया भाषायी सर्वेक्षण उनके सपनों का एक प्रकल्प है, भारत की वर्तमान भाषाओं की धनाढ्यता का पता लगाना। केन्द्र सरकार ने दो बार इस प्रकार के सर्वेक्षण का निर्णय लिया और इस कार्य के लिए 600 करोड़ रुपये की धनराशि अलग रख दी। लेकिन यह कभी मूर्त रूप नहीं ले सका। देवी, जिन्होंने असूचित भाषाओं की एक समिति की अध्यक्षता की थी, इन्तजार नहीं कर सकते थे।

उन्हें सर जमशेदजी टाटा ट्रस्ट से 80 लाख रुपये की धनराशि प्राप्त हुई और अपने कार्य के दौरान जो लोग उनके सम्पर्क में आये थे उन्हें उन्होंने बड़ोदरा में आमन्त्रित किया। मार्च 2010 में 320 अलग-अलग भाषाएँ बोलने वाले 600 लोगों ने भारत भाषा संगम में भाग लिया। सर्वेक्षण चल रहा था।

क्या यह सर्वेक्षण एक भाषायी शव-परीक्षण है? भाषाओं का मरना अक्सर दोहरायी जाने वाली कहानी है, औसतन प्रति पखवाड़े एक भाषा मरती है। लिविंगटंग्स से लेकर फाउंडेशन फॉर इन्डेजर्ड लैंगुएजेज तक कई संगठन गायब हो रही भाषाओं को समर्थन प्रदान करने का प्रयास कर रहे हैं। जो ये प्रश्न पैदा करता है कि क्या हमें भाषाओं को बचाने की आवश्यकता है? क्या लोग उसे बचा सकते हैं जिसकी रचना उन्होंने नहीं की थी?

देवी कहते हैं कि अर्थव्यवस्था में आनेवाला प्रत्येक बड़ा परिवर्तन भाषा के प्रयोग को भी बदल देता है। मानव भाषा का जैसा कि आज हमें ज्ञात है, लगभग 70,000 वर्ष पूर्व प्रारम्भ होने का अनुमान है। जब लोगों ने लगभग 10,000 वर्ष पूर्व खेती-बाड़ी शुरू की और शहरों में बस गये तो बहुत सारी भाषाएँ लुप्त हो गयी होंगी या दूसरी भाषाओं में समाहित हो गयी होंगी। कुल मिलाकर ऐसा अनुमान है कि मानव ने लगभग 22,000 भाषाओं का प्रयोग किया होगा। आज मात्र 7,000 भाषाएँ चलन में हैं और ऐसी आशंका है कि इस शताब्दी के अन्त तक इनमें से आधी भाषाएँ लुप्त हो जाएँगी।

मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार ने कुछ थोड़ी-सी भाषाओं का विस्तार बढ़ाया और कई भाषाएँ लुप्त हुईं, मौखिक संवाद पर लिपि के आधिपत्य का प्रवेश हुआ, ऐसा देवी इंगित करते हैं। अधिकांश भाषाओं की अपनी लिपि नहीं है, इसलिए उन्हें राज्य की मान्यता नहीं मिलती और वे मात्र बोली के स्तर तक गिर जाती हैं। ''बोली जाने वाली भाषाओं के ऊपर लिपि के अत्याचार की तुलना सरकार द्वारा जनता पर किये जाने वाले अत्याचार से की जा सकती है। यह सम्पूर्ण समाजों के ज्ञान और अनुभव को क्षति पहुँचाता है।''

यदि भाषा हमेशा बदलती रही है तो लुप्त हो रही भाषाओं पर चिन्ता क्यों ? देवी अंडमान के लोगों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो 2004 में हिन्द महासागर में सुनामी से आये भूकम्प की विनाशकारी लीला के बाद जंगल के भीतर घुसकर बच गये। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनके मौखिक इतिहास में ऐसी मुश्किल परिस्थितियों का सामना करने का ज्ञान अस्तित्व में था। जब वे संकेत देखे तो वे जानते थे कि क्या करना है। वे जो बर्बाद नहीं हुए।

प्रत्येक भाषा केवल एक खास प्रकार के लोगों का ही नहीं बल्कि एक क्षेत्र के ज्ञान, अनुभव और संस्कृति का सक्रिय अभिलेख है। एक भाषा को खोना उस याददाश्त को खोना है, एक स्वाभाविक धन के साथ-साथ उन आर्थिक अवसरों को भी खोना है जो उनसे मिलते है। एक बच्चा अपनी मातृभाषा में अपने-आप को सर्वश्रेष्ठ तरीके से उच्चारित कर सकता है चाहे भले ही वह दो या अधिक भाषाओं के साथ पला-बढ़ा हो। लेकिन इस बाल्यवस्था में उस पर दूसरी भाषा जबरन लादना उसके जीवन्त होने के साथ विश्वास को दूर कर देता है। ऐसी परिस्थितियों में एक बालक अपनी वास्तविक क्षमता, योग्यता और कार्य क्षमता को व्यक्त नहीं कर पाता है।

कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि सरकार की हिन्दी को प्रोन्नत करने की असंख्य समितियाँ पंगु हैं। हिन्दी की राष्ट्रीय प्रोन्नति की अपेक्षा मुम्बई की मसाला फिल्मों ने अधिक लोगों तक हिन्दी के ज्ञान का प्रसार किया है। जिस प्रकार की भाषा का वे प्रयोग करते हैं वह किसी एक खास किस्म के लोगों द्वारा दूसरे लोगों के समाजिक अभियन्त्रण द्वारा आदेशित नहीं होती है। यह लोगों का दिल जीतने वाली भाषा है। यह लुभावनी भाषा है।

देवी हमें याद दिलाते हैं कि हिन्दी बहुत प्राचीन भाषा नहीं है: ''प्रथम हिन्दी पुस्तक एक 'प्रवेशिका' थी, जो 211 वर्ष पूर्व 1802 में कोलकता में प्रकाशित हुई थी।'' हिन्दी 120 अन्य पोषित करने वाली भाषाओं का संगठन हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन हैं और अधिक धनाढ्य हैं। यदि हिन्दी उनके प्रण को स्वीकृति प्रदान करती है तो यह एक भव्य भाषा है; एक बड़ी नदी जिसकी अनेक सहायक नदियाँ और वितरक नदियाँ हैं। परन्तु राज्य द्वारा समर्थित हिन्दी उस कुल परम्परा को महत्व नहीं देती है और इसे यह राजीव गांधी नेशनल ड्रिंकिंग वाटर मिशन के अर्न्तगत खोदकर लगाये गये एक चापाकल की तरह बना देती है।

यह राज्य-समर्थित हिन्दी जिस प्रकार की राष्ट्रीयता का प्रचार करना चाहती है वह भाषायी प्रभुत्व का है। यूरोप ने 19वीं शताब्दी में भाषा-आधारित राष्ट्रीयता को आगे बढ़ाया और इसके लिए उसे दो विश्वयुद्धों की कीमत चुकानी पड़ी। अब यूरोप में मात्र 60 भाषाएँ हैं। इस प्रकार की राष्ट्रीयता भारत जैसे बहुभाषी राष्ट्र के लिए अनुपयोगी है। देवी कहते हैं, भाषा और प्रशासन की भूमिका का पुनरावलोकन हमारे सार्वजनिक जीवन में सुधार के

लिए शिक्षा से लेकर राजनैतिक प्रतिनिधित्व तक मौलिक बात है। हमें अपने आपको एक साम्राज्यवाद के बाद के यूरोपीय शब्द के बाद वाले विश्वस्त राष्ट्र के रूप में कल्पना करने की आवश्यकता है।

स्वतन्त्रता उस सुगमता पर निर्भर करती है जो हम अपने बारे में और अपनी अनेक आवाजों तथा विरोधाभासों के बारे में महसूस करते हैं। मैं शेखावाटी या मालवी में नहीं लिख सकता। लेकिन जब मैं उन्हें ध्यान में रखता हूँ और वे कहानियाँ जो मैंने अपनी दादियों और चाचियों से सुनी है तो हमारी हिन्दी अधिक समझदारी पूर्ण हो जाती है। मेरी दादी ने सन् 1930 के दशक में महाविद्यालयी शिक्षा पूरी की थी, परन्तु मेरी माँ जिनका जन्म 15 अगस्त 1947 को हुआ था उन्होंने विद्यालय की शिक्षा भी पूरी नहीं की। वे दोनों ही शेखावाटी में बातचीत करती थीं और उनकी बातें सुनना किसी झण्डे या राष्ट्रगीत की अपेक्षा स्वतन्त्रता की अधिक आश्वस्तता लगती थी।

मैं शेखावाटी अधिक नहीं जानता लेकिन आज अपनी माँ के 67वें जन्मदिन पर मैं उस राजस्थानी भाषा में वार्तालाप करने का प्रयास करूँगा। वह अपनी मातृभाषा का गला घोंटने के लिए हमें दण्डित करेंगी। लेकिन यह मेरी हिन्दी को स्वतन्त्रता का एहसास कराएगी। यह मुझे आवश्यकता से अधिक लदे राज्य और उसके आडम्बरपूर्ण राष्ट्रीयता से मुक्ति का एहसास प्रदान करेगी।

अनुवादः बी. मिश्रा

गांधीजी का भाषाई चिन्तन

गणपत तेली

महात्मा गांधी न केवल भारत की आजादी की लड़ाई के अग्रणी व्यक्तित्व थे, बल्कि उन्होंने समाज और राजनीति से जुड़े कई मसलों को भी उठाया था। उनके लिये सीधे राजनीतिक हस्तक्षेप की तरह ही रचनात्मक हस्तक्षेप भी महत्वपूर्ण था। भाषा का मुद्दा उनके लिए इन दोनों श्रेणियों में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। देश की एकता के लिए राष्ट्र भाषा की धारणा राजनीतिक स्तर पर एक हस्तक्षेप था, तो दूसरी तरफ मातृभाषा में शिक्षा जैसे मुद्दे रचनात्मक स्तर पर उनके हस्तक्षेप को प्रतिध्वनित करते हैं। भारतीय राजनीतिक पटल पर गांधी के अवतरण से पहले ही भारतीय परिदृश्य में भाषा और लिपि के विवाद चल रहे थे। हिन्दी-उर्दू विवाद के पूर्वरूप नागरी-फारसी का विवाद तो कमोबेश फोर्ट विलियम कॉलेज से ही प्रारम्भ हो गया था। अपने विभिन्न पड़ावों से गुजरता हुआ यही लिपि विवाद उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भाषा विवाद के रूप में रूपान्तरित हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में भारतीय राजनीति एक नयी दिशा ले रही थी। 1857 के दमन से उबरकर भारतीय जनता एक नये तेवर के साथ उपनिवेशवाद से संघर्ष के लिए तैयार हो रही थी। अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना अपने आप में इसका प्रमाण है कि अँग्रेजों को अब भारत के प्रतिनिधित्व की आवश्यकता थी। दूसरी तरफ 1905 में अँग्रेज सरकार द्वारा किए गए बंगाल विभाजन के विरोध स्वरूप बड़े पैमाने पर यह चिंगारी भड़की थी। बंगाल विभाजन के विरोध में हुए आन्दोलन के महत्त्व को रेखांकित करते हुए इतिहासकार सुमित सरकार ने लिखा है कि, ''जुलाई 1905 के बाद से आन्दोलन ने इतनी तेजी से जोर पकड़ा कि लोग विस्मित रह गए। उसने सारी परम्परागत परिपाटियों को तोड़ दिया, उग्र कार्रवाई के नये-नये तरीके विकसित किए और अपने आधार को विकसित करते हुए स्वराज की लड़ाई का रूप धरण कर लिया।'' नतीजा यह हुआ कि सरकार को यह विभाजन रद्द करना पड़ा। यह सम्भवत: पहला ऐसा मौका था जब अँग्रेज सरकार आन्दोलनकारियों के आगे पूरी तरह झुकी थी। धीरे-धीरे स्वयं काँग्रेस के अन्दर भी उग्र तेवर वाले स्वर बढ़ते गये जिससे काँग्रेस के चरित्र में भी बदलाव आने लगा और आगे कुछ वर्षों

के लिए नरम दल और गरम दल के रूप में काँग्रेस विभाजित भी रही।

काँग्रेस के स्वरूप, भारतीय जनता के व्यापक प्रतिरोध और सामाजिक-आर्थिक अन्तक्रियाओं के परिणामस्वरूप उस वक्त तक भारत एक इकाई के रूप में सामने आ रहा था। उपनिवेशवाद विरोधी चेतना के कारण उस समय राष्ट्रीय प्रतीकों पर भी जोर दिया जाने लगा था। भाषा का विवाद भी उन प्रतीकों की प्रतिद्वन्द्विता में शामिल हो गया और विवाद का मुख्य रूप राष्ट्रभाषा का हो गया। भारत की आजादी के आन्दोलन में राष्ट्र भाषा का मुद्दा जटिल और अत्यन्त विवादास्पद था। अँग्रेजी, हिन्दुस्तानी, हिन्दी, उर्दू, के साथ अन्य भारतीय भाषाओं के बीच यह विवाद चल रहा था। राष्ट्रभाषा और सम्पर्क भाषा के मुद्दे पर हस्तक्षेप करते हुए गांधी ने हिन्दुस्तानी का समर्थन किया था। अक्सर यह सामान्य धारणा हमारे सामने आती है कि गांधी की भाषा नीति प्रगतिशील और लोकतान्त्रिक थी। यहाँ तक कि कुछ लोग गांधी के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विचारों से असहमत होते हुए भी उनकी भाषा नीति के प्रशंसक रहे हैं, जबकि यह गांधी के भाषा सम्बन्धी विचार के भी अन्तर्विरोधी रहे हैं।

आजादी के आन्दोलन में राष्ट्रीयता के लिए समान/एक भाषा का महत्व निर्विवाद था, लगभग सभी पक्ष एक राष्ट्रभाषा के समर्थक थे जबकि भारत में अन्य विविधताओं के साथ-साथ भाषाई विविधता भी थी, इसलिए राष्ट्रीयता के नजरिये से यह चुनौतीपूर्ण स्थिति थी। उस समय उत्तर भारत में हिन्दी-उर्दू का विवाद चल रहा था, तो उत्तर और दक्षिण भारत की भाषाओं के बीच भी आर्यभाषा-द्रविड़भाषा का विवाद मौजूद था। इसके अतिरिक्त बांग्ला, आसामी, नागा, बोडो, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया आदि भाषाएं भी बड़े स्तर पर बोली जाती थीं। इस तरह की विविधता के आधार पर अँग्रेज भारत के राष्ट्र होने और राष्ट्रीयता के दावे को खारिज करते रहे। उन्होंने भारत में '222 अलग-अलग भाषाओं' की मौजूदगी बताकर अपने दावे को मजबूती देने की कोशिश की। दूसरी तरफ भाषाओं की इस विविधता और राष्ट्रीयता के आग्रह के कारण भारत के राजनैतिक नेतृत्व ने किसी एक भाषा को राष्ट्र भाषा का दर्जा देने कोशिश की और उनकी वही भाषा आगे चलकर आजाद भारत की आधिकारिक भाषा बनने वाली थी। भाषा सम्बन्धी विवादों का एक कारण यह भी था। अँग्रेजों ने भी भाषा-विवादों को भी अपनी 'फूट डालो और राज करो' नीति के तहत बढ़ावा दिया। इस विवाद का मंच काँग्रेस तक विस्तृत था और काँग्रेस भारत के राजनीतिक क्षितिज पर केन्द्र में थी और गांधी काँग्रेस के सर्वोपरि नेता थे। भाषा-विवादों में गांधी के मत का राजनैतिक महत्व इस वजह से भी था।

हिन्दी और उर्दू की लड़ाई अँग्रेजों के भारत में आने के साथ शुरू होती है। अँग्रेजों द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज द्वारा हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषा के रूप में स्थापित करने के बाद अदालतों और सरकारी दफ्तरों में फारसी लिपि लागू होने पर यह

विभाजन पढ़े-लिखे उच्च वर्गों तक पहुँचा और यह लिपि-विवाद प्रारम्भ हुआ। इस विवाद के पीछे अँग्रेजों द्वारा की शुरू की गई सरकारी नौकरियाँ, खुद को राष्ट्र के रूप मे संगठित करने के क्रम में सांस्कृतिक स्तर पर समुदाय को परिभाषित करना, औपनिवेशिक सत्ता द्वारा भाषाओं को भी 'फूट डालो, राज करो' नीति का हथियार बनाना आदि मुख्य कारण थे।

सरकार द्वारा फारसी को अदालतों एवं सरकारी कामकाज की लिपि घोषित करने का ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जाति के लोगों ने हिन्दू धर्म के नाम पर विरोध किया (हालाँकि कायस्थ जाति के कई लोग लम्बे समय तक फारसी के समर्थक रहे) और इसी तरह से सर सैयद के नेतृत्व में मुस्लिम धर्म के आधार पर फारसी का समर्थन किया गया। इस पटरी पर आगे चलकर यह प्रश्न पूरी तरह से धार्मिक समुदाय से जुड़ गया और हिन्दी-नागरी को हिन्दू तथा उर्दू-फारसी को मुसलमानों की भाषा और लिपि माना जाने लगा। भारतेंदु काल में प्रारम्भ हुआ यह विवाद मूलतः नागरी और फारसी लिपि का विवाद था, जो अदालतों और सरकारी दफ्तरों के कामकाज की भाषा को लेकर शुरू हुआ। हिन्दी का पक्ष आर्य समाज, दयानन्द एंग्लो-वैदिक संस्थाएँ, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं द्वारा लिया जा रहा था तो सर सैयद अहमद खां, अंजुमन-ए-तरक्की उर्दू, मुस्लिम लीग आदि द्वारा उर्दू का पक्ष लिया जा रहा था। हिन्दी समर्थक पक्ष हिन्दी को अधिक से अधिक संस्कृतनिष्ठ बना रहा था तो उर्दू समर्थक पक्ष उर्दू को अधिक से अधिक फारसीनिष्ठ बना रहा था।

हिन्दी और उर्दू के बीच का यह विवाद भारत की आजादी की लड़ाई के लिए प्रतिगामी भूमिका निभा रहा था। अँग्रेज 'फूट डालने' में कामयाब हो गये थे। यह समस्या केवल भाषा तक सीमित न रहकर समुदायों तक पहुँच गयी थी। उस समय के राष्ट्रवादी नेताओं और प्रगतिशील-लोकतान्त्रिक पक्षों द्वारा इस विवाद के समाधान के रूप में हिन्दुस्तानी भाषा पर जोर दिया गया। महात्मा गांधी सहित काँग्रेस के कई नेताओं ने इसका समर्थन किया। इसके समानान्तर प्रेमचन्द और प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़े लेखकों ने भी भाषा सम्बन्धी विवादों का विरोध करते हुए लोकतान्त्रिक दृष्टि से हिन्दुस्तानी का महत्व स्वीकार किया। यहाँ यह उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि उस समय के विमर्शों में हिन्दुस्तानी की कोई एक निर्धारित परिभाषा नहीं थी, बल्कि इसका प्रसंगानुकूल अर्थ निकाला जाता था। यहाँ तक कि कुछ लोग इसे हिन्दी के अर्थ में प्रयुक्त करते थे, तो कुछ उर्दू के अर्थ में। काँग्रेस की पृष्ठभूमि के कारण हिन्दुस्तानी के सन्दर्भ में अन्य पक्षों की अपेक्षा गांधी का पक्ष मजबूत रहा। गांधी हिन्दुस्तानी को हिन्दी और उर्दू की स्थानापन्न तो मानते ही थे, वे इसे राष्ट्रभाषा भी मानते थे। हालाँकि गांधी भी हिन्दुस्तानी के नाम और स्वरूप के बारे में निश्चित नहीं थे।

गांधी उर्दू-हिन्दी विवाद के मद्देनजर ही राष्ट्रभाषा के प्रश्न को देख रहे थे, इसीलिए उन्होंने बीच का रास्ता निकालते हुए हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने का प्रस्ताव

रखा। उनके अनुसार ''हिन्दुस्तानी, वह भाषा है जिसे उत्तर हिन्दुस्तान के शहरों और गाँवों में हिन्दू, मुसलमान आदि सब लोग बोलते हैं, समझते हैं और आपस के कारोबार में बरतते हैं और जिसे नागरी और फारसी दोनों लिखावटों में लिखा-पढ़ा जाता है और जिसके साहित्यिक (अदबी) रूप आज हिन्दी और उर्दू नाम से पहचाने जाते हैं।'' हालाँकि गांधीजी की अवधारणा में तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, गुजराती, मराठी, उड़िया, बांग्ला, पंजाबी, कश्मीरी, उत्तर-पूर्व में बोली जाने वाली भाषाओं के साथ-साथ उत्तर की कई सारी जनजातीय भाषाएँ शामिल नहीं थीं लेकिन भाषाई विवादों को सुलझाने का एक रास्ता गांधी तैयार कर रहे थे।

यह सच है कि हिन्दी और हिन्दुस्तानी को लेकर उनके अन्तर्विरोध बहुत कुछ अस्पष्ट कर देते थे। कहीं वे हिन्दी का समर्थन करते थे, तो कहीं हिन्दी की नयी परिभाषा बताते थे, जिसे वे हिन्दुस्तानी की परिभाषा भी बताते थे। उदाहरण के लिये, गांधी ने एक जगह राष्ट्र भाषा के लक्षण बताने के बाद कहा कि ''हमें यह कबूल कर कर ही लेना होगा कि हिन्दी भाषा में ये सब लक्षण हैं। हिन्दी भाषा मैं उसे कहता हूँ, जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं, और देवनागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती है।'' उन्होंने हिन्दुस्तानी की परिभाषा भी इसी तरह से दी थी। इसका एक कारण यह हो सकता है कि ऐसा करके वे इन लोगों को हिन्दुस्तानी के नजदीक लाना चाहते हो। सम्भवत: इसी कारण से हिन्दी-हिन्दुस्तानी जैसे पद भी प्रचलित हुए थे। वैसे, गांधीजी के विचारों में इस तरह के अन्तरद्वन्द्व उनके अन्य मुद्दों पर व्यक्त विचारों में भी मिलते हैं। वस्तुत: उनके विचार वक्त के साथ विकसित होते रहे हैं।

गांधी जिसे हिन्दी-हिन्दुस्तानी कहते थे, उसे राष्ट्र भाषा बनाने के लिए वे उसका पूरे भारत में प्रसार चाहते थे। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने दक्षिण भारत और पूर्वोत्तर में अनेक संस्थाओं की स्थापना की। पूर्वोत्तर और दक्षिण भारत में इस भाषा का प्रचार उनके लिये विशेष रूप से आवश्यक था, इन भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं को वे किसी-न-किसी तरह से हिन्दी या हिन्दुस्तानी से सम्बद्ध मानते थे। इसलिए वे चाहते थे कि दक्षिण भारत की भाषाएँ बोलने वाले राष्ट्रहित में राष्ट्रभाषा अर्थात हिन्दी या हिन्दुस्तानी सीखें।

देश में एक भाषा के प्रचलन के लिए दक्षिण भारत के लोग ही हिन्दी या हिन्दुस्तानी क्यों सीखें, क्यों नहीं हिन्दी का स्थान किसी अन्य भाषा को मिले, इन सवालों के जवाब में अक्सर गांधी तर्क देते थे कि दक्षिण में तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ बोलने वाले लोग कम हैं और हिन्दी बोलने वाले इससे ज्यादा हैं, इसलिए उन्हें ही हिन्दी सीखनी चाहिए। गांधी ने लिखा कि ''द्रविड़ लोगों की संख्या कम है इसलिए राष्ट्र की शक्ति के मितव्यय की दृष्टि से यह जरूरी है कि हिन्दुस्तान के बाकी सब लोगों को द्रविड़ भारत के साथ बातचीत करने के लिए तामिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सिखाने के बदले द्रविड़ भारत को शेष हिन्दुस्तान की आम जबान सीख लेनी चाहिए।'' वे बंगाल को भी मद्रास की कोटि में रखते हैं।

हम ऊपर इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दी-उर्दू विवाद मूलत: लिपि सम्बन्धी विवाद का विस्तृत रूप है। गांधी के लिए भी भाषा के साथ-साथ लिपि का प्रश्न भी महत्वपूर्ण था। वैसे तो हिन्दुस्तानी की परिभाषा देते हुए गांधी कहते हैं कि यह नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाएगी। लेकिन उनका यह विचार भी स्थायी नहीं था और वे अन्य जगह पर कहते हैं कि अन्त में कोई एक लिपि विजयी होगी। उन्होंने लिखा कि- ''लिपि की कुछ तकलीफ जरूर है। मुसलमान भाई अरबी लिपि में ही लिखेंगे, हिन्दू बहुत करके नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों को स्थान मिलना चाहिए। अमलदारों को दोनों लिपियों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। अन्त में जिस लिपि में सरलता होगी, उसकी विजय होगी।''

यह गौरतलब है कि गांधीजी के भाषा सम्बन्धी कुछ विचार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विचारकों से मेल खाते हैं। वैसे, गांधी कई वर्षों तक सम्मेलन से जुड़े रहे, यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों की अध्यक्षता भी की। लेकिन गांधी ने 1945 में हिन्दुस्तानी और हिन्दी के फर्क को समझ लिया तब उन्होंने स्वयं द्वारा ''सम्मेलन की भाषा और लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं'' दे पाने के कारण सम्मेलन से हटने की इच्छा जाहिर की। तब टण्डन ने गांधी द्वारा सम्मेलन से अलग होने की इच्छा जाहिर करने पर 8 जून 1945 को जवाब देते हुए लिखा कि ''हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कामों में कोई मौलिक विरोध मेरे विचार में नहीं है। आपको स्वयं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सदस्य रहते लगभग 27 वर्ष हो गये। इस बीच आपने हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। वह सब गलत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी का प्रचार वांछनीय है, यह तो आपका सिद्धान्त है ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू-शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है, जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है।'' गांधीजी ने इस बात का खण्डन नहीं किया, बल्कि यह आशा जतायी कि सब हिन्दी प्रेमियों को उनके नये दृष्टिकोण का स्वागत करना चाहिए। और ऐसा नहीं होने के कारण ही उन्होंने सम्मेलन से स्वयं को अलग कर लिया। वस्तुत: गांधी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा भी चलाते थे और साहित्य सम्मेलन से भी जुड़े थे।

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी का यह विवाद असल में उत्तर भारत के शिक्षित वर्ग से सम्बन्धित विवाद था, जिसे काँग्रेस के जरिये विस्तार मिला। इस विवाद के हल हो जाने से भारत की भाषा की समस्या का समाधन नहीं होना था, क्योंकि यदि हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा या राजभाषा बन जाती तो भी उसकी स्थिति आज हिन्दी की स्थिति से बहुत अधिक व्यापक नहीं होती। यह अवश्य है कि यदि हिन्दुस्तानी की अवधारणा को व्यापक स्वीकृति मिलती तो हिन्दी और उर्दू के बीच का विभाजन नहीं रहता और हिन्दी-उर्दू के झगड़े से हिन्दू-मुस्लिम समुदायों के बीच कट्टरता नहीं फैलती, साझी संस्कृति और साझी

विरासत का विभाजन नहीं होता तथा लोकतान्त्रिक एवं समावेशी मूल्यों की स्वीकृति होती। यह भी कोई कम उपलब्धि नहीं होती और इस सन्दर्भ में गांधी के विचार आज भी प्रासंगिक हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थः

1. सुमित सरकार, बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन, अनु. आदित्य नारायण सिंह, ग्रन्थ शिल्पी, नयी दिल्ली, 1997, पृ. 8
2. रजनी पाम दत्ता, आज का भारत, मैकमिलन, दिल्ली, 1977, पृ. 295
3. आलोक राय, हिन्दी नेशनलिज्म, ओरिएन्ट लोन्गमेन, हैदराबाद, 2001
4. गांधीजी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, अनुवादक-काशीनाथ त्रिवेदी, नवजीवन, अहमदाबाद, 1947, पृ. 153
5. गांधीजी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृ. 5
6. गांधीजी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृ. 21
7. गांधीजी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृ. 11-12
8. गांधीजी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृ. 174
9. गांधीजी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृ. 175

सम्पर्कः 393, डीडीए, ब्लॉक- सी-डी, कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग, दिल्ली-110088

हमारे नये प्रकाशन

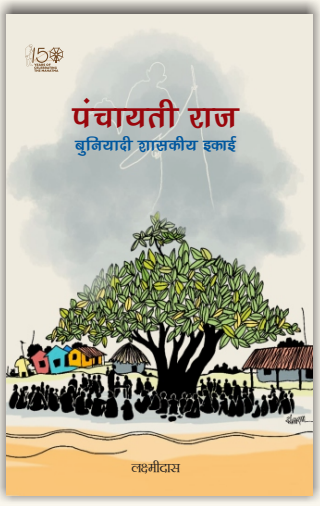

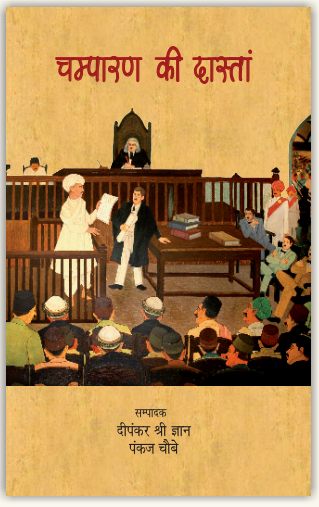

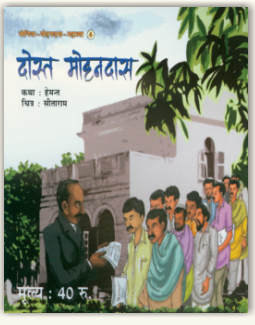

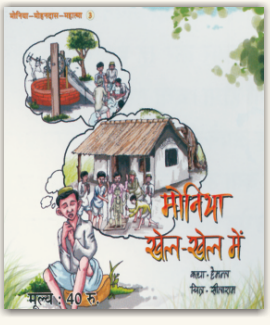

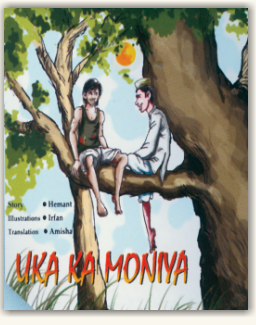

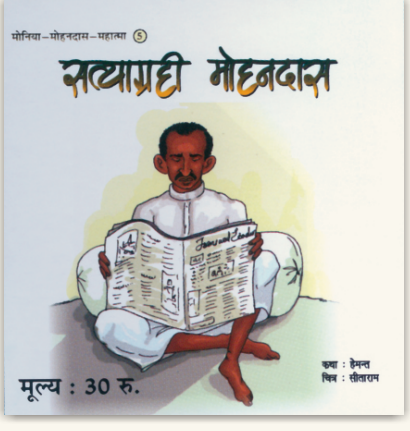

सम्पर्क:

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110 002

फोन : 23392710, 23392709, 23011480, 23012843

फैक्स : 91.11.23011480, 23392706

ई-मेल : 2010gsds@gmail.com www.gandhismirti.gov.in

RN - DELHIN/2006/16304

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
(स्वायत्त निकाय, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)

अनासक्ति दर्शन

भाषा अंक

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति